NAINI TAL
डी॰एस॰ कुमियाल पुस्तकालय
नैनीताल

Class No. 1
Book No.
Reg No. 3767

निहाई की चिनगारियाँ

"SPARKS FROM THE ANVIL"

का

हिन्दी-अनुवाद

मूल-लेखक—श्री के० एम्० मुंशी

अनुवादक

श्रीगयाप्रसाद दीक्षित, एम्० ए०

मुद्रक व प्रकाशक

श्री भुन्नूलाल श्रीवास्तव

(राजा) रामकुमार-प्रेस, बुकडिपो,

हजरतगंज, लखनऊ.

१९५५ ई०

मूल्य २।)

भूमिका

बाल्यावस्था से ही मैंने बहुत कुछ लिखा और बोला है। कभी कभी अपने भावों की अभिव्यक्ति कुछ अप्रिय एवं सहे ढंग से भी की है—बहुत बार उसी निमित्त किये गये परिश्रम के द्वारा, और यदाकदा किसी बाहरी प्रभाव में आकर या किसी अन्तःप्रेरणा के द्वारा।

इन अन्तिम प्रकार के भावोद्गारों में एक विशेषता है। वे उसी तरह प्रस्फुटित हुए हैं, जैसे कि हथौड़े के आघात से चिनगारियाँ प्रकट होती हैं—बिना अतिरिक्त प्रयत्न के उस तथ्य की छाप लिये हुए, जिसको मैंने यथार्थ जीवन में अपनाया है, जिसका साक्षात्कार और अनुभव मैं जीवन में कर चुका हूँ।

यही बात है कि मैंने इन लेखों को 'चिनगारियों' का नाम दिया है।

इस पहली सिरीज़ में, अधिकतर भावावेश में निःसृत श्रद्धांजलियाँ और डायरी के कतिपय उद्धरण हैं, जिसे मैं यदाकदा लिख लेता था।

इनमें से अधिकांश 'चिनगारियाँ' प्रसन्नमन या प्रस्फुटित नहीं हुई हैं। बहुत सी तो दृढ़ विश्वास और श्रद्धा से ही उद्भूत हैं और जो उस दृष्टिकोण की अभिव्यञ्जना करती हैं जिस पर मेरा जीवन किसी न किसी प्रकार से आधारित रहा है। उदाहरण के लिए, "भगवद्गीता—एक अनुशीलन" उस धर्मग्रन्थ पर लिखा गया कोई निबन्ध-विशेष नहीं है, वरन् एक भावाभिव्यञ्जना. 'चिनगारी' मात्र है।

सन् १९४१ ई० में कठिन बीमारी के कारण मैं जेल से मुक्त कर दिया गया था। जब मैं बीमारी से धीरे-धीरे अच्छा हो रहा था, तभी नैनीताल के निकट 'कोसानी' में मैंने कुछ डायरी के पृष्ठ लिख डाले थे। उन्हीं लेखों को साहित्यिक रूप में संकलित किया गया और वही संकलन प्रस्तुत पुस्तक की अन्तिम 'चिनगारी' के रूप में प्रकाशित किया गया है।

अतः इस दृष्टि से अनेक 'चिनगारियाँ' मेरा ही व्यक्तीकरण हैं—मेरा ही रूप हैं। उनमें जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण निहित है, अतः मुझे इस पुस्तक को जनता के सामने रखने में कोई संकोच नहीं है।

नं० १, क्वीन विक्टोरिया रोड,
नई दिल्ली
ता० ३ अक्टूबर, सन् १९५१ ई०

के. एम्. मुंशी

मुख्य सम्पादक की ओर से

मार्च, सन् १९५१ ई० में मैंने 'भारतीय विद्या-भवन' की "बुक यूनिवर्सिटी" का आयोजन किया। इस संस्था का ध्येय यह है कि एक सी सज-धज के साथ सस्ते मूल्य में ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय जिनमें विश्व का उच्च-साहित्य आ जाय, और खास तौर पर वह साहित्य, जो भारतीय है और जिसमें उन मौलिक तथ्यों का समावेश है जिनका प्रतिनिधित्व भारतीय संस्कृति करती है।

इस दिशा में पहले क़दम में ही यह तय किया गया है कि "जनरल-एडीटरों" द्वारा चुनी गई १०० पुस्तकें अँगरेजी में प्रकाशित की जायँ, और इनमें से ५० पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य तुरन्त शुरू कर दिया जाय। ये पुस्तकें लगभग २०० से लेकर २५० पृष्ठों तक की होंगी। अँगरेज़ी संस्करण का मूल्य १॥) [और हिन्दी संस्करण का मूल्य प्रति पुस्तक २)] होगा।

इरादा यह भी है कि इन पुस्तकों को तथा दूसरी किताबों को आठ भिन्न भिन्न भारतीय भाषाओं में—जैसे कि (१) हिन्दी, (२) बंगाली, (३) गुजराती, (४) मराठी, (५) तामिल, (६) तेलगू, (७) कन्नड़ और (८) मलयालम् में—प्रकाशित किया जाय। साहित्य के इस सामान्यतया व्यापक स्रोत से, पाठक विश्व की और भारतीय साहित्य की विचारधाराओं को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे। इस वाङ्मयवारिधि में भाषारूपिणी महोर्मियों की विभिन्नता होने पर भी प्रेरणा और भावना-रूपी अगाध जल समानरूप से भरा है।

इस योजना के अन्तर्गत ६०० ग्रन्थों का मुद्रण-प्रकाशन अपेक्षित है जिसके लिए एक 'अखिल-भारतीय संगठन' तथा विशिष्ट साधनों की आवश्यकता है। इस योजना को सुसंगठित और कार्यान्वित करने में यह 'भवन' विशेष प्रयत्नशील है।

वर्त्तमान युग की विशेषताओं को सर्वथा दृष्टि में रखते हुए, यह 'भवन' अपने ध्येय के अनुरूप, भारतीय संस्कृति के समन्वय का समर्थक है और उसकी मुख्य मौलिक विशेषताओं के पुनरुज्जीवन का भी। जैसे कि—

(१) मनुष्य को स्वातन्त्र्य की ओर ले जानेवाली स्थितियों के समन्वय के साथ साथ, मानव जाति की प्रतिष्ठा, जिससे कि वह अपने ही स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार विकासशील बने।

(२) नैतिक-व्यवस्था के ढाँचे के भीतर ही, मनुष्य के कार्यकलाप और सामाजिक संबंधों में अनुरूपता।

(३) जीवन-संबंधी सर्जनात्मक कला की प्रेरणा—जिसके द्वारा मानवोचित वृत्तियाँ प्रगति करते करते उत्कृष्टताओं में परिवर्त्तित होती हैं, ताकि मनुष्य, ईश्वर का निमित्त-मात्र बन जाय और 'ईश्वर का विश्व में, एवं विश्व का ईश्वर में' साक्षात्कार करे।

यह बहुत उपयुक्त हुआ है कि 'बुक यूनिवर्सिटी' की प्रथम भेंट महाभारत का संक्षिप्त संस्करण है जिसे

श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे सुयोग्य पुरुष ने लिखा है। ये महानुभाव आज के प्रतिष्ठित भारतीयों में से एक महा-पुरुष हैं। दूसरी पुस्तक 'गीता' के विषय में है जिसे श्री एच्. वी. दिवातिया (H. V. Divatia) ने लिखा है। ये महोदय कानून के प्रख्यातनामा विशेषज्ञ हैं और दर्शनशास्त्र के अध्येता भी। शताब्दियाँ बीत गईं जब कि घोषित किया गया था कि "जो इस ग्रन्थरत्न में उपलब्ध नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।" आज २५ सदियों के बाद भी हम यही बात दुहराकर कह सकते हैं। जो गीता को नहीं जानता, वह जीवन को, उसकी आज़माइशों को, उसके कष्टों को और उसकी महत्ता को नहीं जानता।

महाभारत केवल ऐतिहासिक पुस्तक नहीं है, वह एक 'रोमांस' भी है; वीर पुरुषों और वीराङ्गनाओं की कहानी है, जिनमें से कुछ व्यक्ति दिव्य कोटि के थे। वह पूर्णतया एक साहित्य-ग्रन्थ है, जीवन-संबंधी समग्र आचारों का ग्रन्थ है, और वह सामाजिक, नैतिक तथा चिन्तन का एक 'दर्शन-ग्रन्थ' है। 'गीता' उसका हृदय है, जो गीता कि धार्मिक ग्रन्थों में उत्कृष्ट है, जो आख्यान की दृष्टि से श्रेष्ठ है और जिसके ११ वें अध्याय में क्रम-प्राप्त 'दिव्य-दर्शन' हैं।

भारत का प्राचीन एवं नवीन साहित्य, उसकी सभी भाषाओं के माध्यम से, वाङ्मय के ऐसे विशाल भंडार में केन्द्रीकृत किया जायगा, जो कि सबके लिए सुलभ हो। इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले अन्य भाषाओं के

ग्रन्थ भी इस भंडार में शामिल कर लिये जायँगे। मैंने यह अनुभव किया है कि सांसारिकता अपने अनावृत रूप में हमें बहुत अधिक घेरे हुए है। ऐसी परिस्थिति में पुस्तकों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य और जाग्रत् की गई अभिलाषा हमें जितना अधिक ऊपर उठावेगी, हमें अनुप्रेरित और समुन्नत करेगी, उतना अधिक और कोई पदार्थ नहीं कर सकता।

मैं उन सभी व्यक्तियों को धन्यवाद समर्पित करता हूँ, जिन्होंने 'भवन' के इस विभाग के कार्य को सफल बनाने में सहायता प्रदान की है और उसके निमित्त कार्य किया है।

१, क्वीन विक्टोरिया रोड,
नई दिल्ली
ता० ३ अक्टूबर, १९५१ ई०

के. एम्. मुंशी

विषय-सूची

भाग १

विषय			पृष्ठ
१. जब मैं पीछे देखता हूँ	...	...	१
२. उस पवित्र आम्र-वृक्ष के नीचे		...	६
३. एक दुर्निवार प्रलोभन	...	...	११
४. डायरी के पृष्ठों के संस्मरण	...	...	१७
५. सिंहावलोकन ...	...	....	२५
६. सौन्दर्य का सम्प्रदाय	...	...	३४

भाग २

१. भक्ताधीन	....	...	४१
२. महात्माजी का अनुसरण	...	...	४८
३. श्रीअरविन्द	....	...	५३
४. पंडित नेहरू के अनेक पहलू	...	...	५९
५. अदमनीय सरदार	....	...	६६
६. राजाओं के उन्मूलक	...	....	८०
७. मालवीयजी महाराज (१)	...	....	८९
८. मालवीयजी महाराज (२)	...	...	९२
९. अजेय आत्मसत्तावाले रोलाँ		....	९७
१०. डाक्टर एनी बेसेन्ट के जन्म-दिवस पर अभिनन्दन	...	...	१०३

११. आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव १११
१२. भूलाभाई देसाई ११६
१३. सत्यमूर्त्ति—एक वीर योद्धा १२६
१४. महादेव देसाई—एक प्रशस्ति.... ... १३०
१५. जमनालालजी १३३
१६. प्रोफेसर मंसाली का अनशन (१) ... १३७
१७. प्रोफेसर मंसाली का अनशन (२) १४४
१८. मेरे परिचित कुछ चिरस्मरणीय वकील १५३
१९. अल्लादबक्श १६९

भाग ३

१. जेल डायरी का एक पृष्ठ—भय ... १७२
२. नानकाना साहेब की तीर्थयात्रा १७६
३. वन-महोत्सव का रक्षक देवता ... १८८
४. श्रीमद्भगवद्गीता—एक अनुशीलन ... १९२
१—संघर्ष की भावना या दृढ़ इच्छा १९२
२—होना या करना—प्रश्न यह है १९८
३—ईश्वरार्पण २०५
४—सत्य जो ऐक्य है २१५
५—मौन और एकान्तता की भावना २२२

प्रथम भाग

(१)

जब मैं पीछे देखता हूँ

अपने पिछले जीवन पर दृष्टिपात करना बहुत ही मनोरंजक विनोद है। सुनने वालों के लिए भी यह सुख-कर है। अपनी निजी पूर्णता के भान के साथ दूसरों की मूर्खताओं एवं त्रुटियों का जानना गोददायी होता है।

अनेक विगत वर्षों में मुझे अनेक अनुभव होते गये। अब उनका एक समुदाय सा हो गया है। अपने जीवन के सिंहावलोकन के लिए मुझे इसके मुख्य-मुख्य अंगों पर दृष्टिपात करना है।

अपनी स्मृति को कुछ ही वर्ष पीछे ले जाने पर मैं अपने को बीजापुर प्रान्तीय जेल के कैदी नं० ६०८६ के रूप में देखता हूँ। मोटे कैदी नीली धारीवाले वस्त्र की वरदी पहने, गीता की पुस्तक हाथ में लिए, जेल के छोटे-मोटे अधिकारियों की मिथ्याभिमान से लांछित अभद्रता का अनुभव कर रहा

है। इन अधिकारियों के लिए तो किसी भले आदमी के साथ दुर्व्यवहार करना उनके जीवन का एक सर्वोत्तम विनोद था, परन्तु मेरे लिए अपने कर्त्तव्य पालन का आनन्द एवं एक नयी कार्य-प्रणाली के सृजन का श्रेय पर्याप्त उपहार था।

दो वर्ष के लम्बे अवसर में मैंने भगवद्गीता तथा अन्यान्य ग्रंथों को पढ़ा या सवेरे, दोपहर, रात में कुछ लिखा। इस काम में नये रूप, नयी कल्पनायें एवं नवीन शब्द-प्रणाली, जो मेरे मस्तिष्क में आती गई, सबने मेरे उस जीवन को वह ताजगी दी जिसके बिना वह साहस छुड़ा देनेवाली एकरसता के कारण नीरस हो जाता।

अब मैं कुछ और पीछे की ओर दृष्टि डालता हूँ। यह १९२२ ई० है। मैं देखता हूँ एक वकील, जो अपने पेशे के संघर्ष में पड़ा है। पहले उसका व्यवसाय मन्द रहा, धीरे-धीरे चल निकला और वह वकील मानो अंधकार से प्रकाश में आया। लेकिन एक वकील की जीवनचर्या जिसमें मिस्लों और मश्विरों का ताँता है, और लब्धप्रतिष्ठ न्यायाधीशों के मुख से निकले हुए बुद्धिमानी के शब्दों का सुनना जिसका एक अंग है, उसे नीरस लगती है। उसके मन में एक नवीन उत्साह की तरंग है। जो पहले एक स्वाभाविक क्रियात्मक प्रयत्न मात्र था, वह अब एक विरोधात्मक रूप में सामने आता है। वह एक नई तथा प्राचीन बंधनों से मुक्त साहित्यिक शैली के प्रचार में लगा हुआ है। सामाजिक तथा नैतिक रूढ़ियों को तिरस्कृत कर वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए साहित्यिक कलाकार के स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष करता

है। वह स्वयं उस सौन्दर्य को नये साहित्यिक रूप में प्रकट करने में लगा है और इससे गुजरात बड़े आश्चर्य में पड़ गया है। प्राचीन रूढ़ियों के नितान्त पक्षपाती व्यक्तियों ने समझा कि आकाश ही फटा पड़ रहा है। कुछ सम्मानित सूखी साहित्यिक गोष्ठियाँ उसे सदाचारद्रोपक का अभिशाप देती हैं। किन्तु वे दिन मेरे लिए गौरवशाली थे। मेरे हृदय में एक योद्धा का उल्लास था और मेरे जीवन में एक नया रंग और नया आकर्षण आ गया।

मैं अतीत के नौ-दस वर्षों की ओर देखता हूँ। यह ईसवी सन् १९१३ है। अभी हाल ही में एक गरीब विद्यार्थी उस न्यायालय के मौलिक क्षेत्र (Original side) में एक वकील बन गया है। मित्र-हीन और उपाय-हीन वह एकाकी और शंकित, बिना किसी सहायक के 'रिज रोड' से 'नेपियन सी रोड' पर घूमता फिरता है। भाग्य ने उसे उस विशाल संसार में ढकेल दिया है जहाँ आशा और निराशा में उसका कोई साथी नहीं है। तब भी उसमें एक नयी उमंग छा रही है। स्त्री, पुरुष और बच्चों की सुन्दर आकृतियाँ, सरस घटनाएँ और प्रेम और पौरुष के विचित्र मनोभाव उसकी कल्पना में बहने लगे जो भाषा में साकार होने के लिए उलझ रहे हैं। वह नवयुवक किंचित् अँग्रेजी और कुछ अपनी मातृभाषा जानता है, फिर भी धुँधले चित्र दुर्निवार हैं, जो शिथिल शैली के बंधनों को तोड़कर उसकी कहानियों के नायक और नायिकाओं का निर्माण करते हैं। मैं उनके पुनर्जीवित होने के प्रयत्न को नहीं रोक सका और उन्हें

कागज पर जीवित होते देखकर मुझे एक नई गाँ के आनन्द का सा अनुभव हुआ।

दस और लम्बे वर्ष सामने आते हैं। यह सन् १९०४ ई० है। मैं बड़ौदा कालेज का विद्यार्थी हूँ। रूस-जापान-युद्ध अभी समाप्त हुआ है। अपने छिपे पराक्रम के भान से युक्त एशिया सपने में झूमने लगा है। योरप परास्त हो गया है, जैसा कि सिकन्दर की बाबमी के बाद से कभी नहीं हुआ था। भारत राष्ट्रीयता की एक नूतन भावना में जगमगाने लगा है। श्री अरविन्द घोष मेरे आंग्ल भाषा के प्राध्यापक हैं। उनका जीवन और उपदेश उस समय के विद्यार्थियों के हृदयों में प्रभावशाली प्रोत्साहन उत्पन्न करता है जिनकी कल्पना और निश्चय में पूर्ण और 'अविभाज्य-भारत-राष्' का जन्म निहित है। मैं अनेक मित्रों सहित एक नयी भावना के रहस्य में प्रविष्ट होता हूँ तथा हम में से प्रत्येक अनुभव करता है कि भारतीय के रूप में जन्म लेना एक विशेषाधिकार है। उस समय एक परमोल्लास की सृष्टि होती है जो मेरे जीवन में व्याप्त हो जाता है।

मैं पीछे के छः और वर्षों को देखता हूँ। अब १८९८ ई० है। नौ वर्ष का एक छोटा दुर्बल ब्राह्मण बालक प्रति-दिन परिवार के आराध्यदेव शिव के सामने खड़ा होता है। तीन बार वह स्नान और संध्या करता है। उसका मन पुराणों के महानायकों और महर्षियों से भरा है। उसके लिए वे जीवित एवं उसके परिवार के ही व्यक्ति हैं। वह कल्पनालोक में उनके साथ रहता है और वे स्वप्न में उसके पास आते हैं।

वह अपने को भारतीय संस्कृति की अवर्णित शताब्दियों का उत्तराधिकारी समझता है। रात-दिन वह प्राचीन स्त्री-पुरुषों के स्वप्न-संसार में रहता है और जीवन उसके लिए एक सुखद समर्पण है।

पिछले सप्ताह कराची में गुजराती-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व मैंने किया। यह अपूर्व सम्मान था, किन्तु मैं अपनी दुर्बलताओं के विचार से बोझिल था। त्रुटियाँ और अनेक सम्भावनाएँ मेरे सामने उठ खड़ी हुईं जिन्होंने मेरे जीवन में विचित्रता भर दी थी। अविश्वास के उन क्षणों में जब मैंने अतीत की ओर देखा, तब १८९८ के बालक का चित्र मेरे सामने आ गया और वैसे ही मैंने अनुभव किया कि १८९८ का वह बालक अपनी गौरवशालिनी परम्परा के विचारों में रमता हुआ सचमुच यथार्थरूप में मैं ही था और उसमें वे संवेग और संयोग थे जिन्होंने भारत को महान् बनाया और बनाते हैं। मैंने यह भी देखा कि मेरे जीवन की बाद की अवस्थाएँ उस अद्भुत मौलिक कृति की भद्दी, कलाहीन और आधुनिक दिखावटी रूपान्तर मात्र हैं।

अब बिखरी स्मृतियों के अध्याय को समाप्त करने का समय है। मैं कल्पनालोक से यथार्थ और १९३८ के जीवन-की ओर आता हूँ और आधुनिक पीके और नीरस जीवन-क्षेत्र में मुड़ता हूँ।

(रेडियो पर भाषण, जनवरी १९३८)

(२)

उस पवित्र आम्र वृक्ष के नीचे

पूना के यरवदा केंद्रीय कारागार में पदार्पण करने पर आपके बाईं ओर के प्रांगण को राजनैतिक कैदी यरवदा मंदिर के नाम से जानते हैं। मंदिर में एक बड़ा आम का पेड़ है जिसकी नीची और घनी शाखाएँ उसे एक चित्रात्मक रूप देती हैं। उसी पेड़ की दृष्टि-पथ के भीतर मैं गिरफ्तार होने के बाद से १५ मार्च सन् १९४१ ई० तक रहा।

किसी समय महात्मा गांधी इसकी छाया में बैठकर कभी सूत कातते हुए, कभी लिखते हुए, और कभी प्रार्थना करते हुए रहते थे। इसकी शाखाओं के नीचे उन्होंने हिन्दू-समाज में एकता लाने के लिए उपवास किया था। इसी के नीचे उन्होंने ईश्वर से सान्निध्य प्राप्त किया था। अतः हम लोगों के लिए यह बोधिवृक्ष की पवित्रता रखता है। मैं, सरदार पटेल, श्री भुलाभाई देसाई, श्री खेर, श्री मंगलदास पकवासा, श्री नूरी, श्री पाटिल और डा० गिल्डर उन लोगों में से थे जो इस पवित्र आम्र वृक्ष की शरण में रहे। प्रधान

कुलाचार्य के उचित अभिमान के साथ सरदार उन दिनों के संस्मरण सुनाते जब कि १९३३ ई० के ऐतिहासिक उपवास में वे गांधीजी के साथ थे। उन्होंने उस प्रांगण के कोने-कोने से सम्बन्धित घटनाओं को बतलाया। मैं गीता से, श्री नूरी कुरान से और डा० गिल्डर गाथा से जिस समय प्रार्थना करने बैठते और जब हम लोग 'रघुपति राघव राजा राम' की धुन के साथ तालियाँ बजाते तो मुझे ऐसा लगता कि स्वयं गांधीजी हम सबके बीच में वर्तमान हैं। उस जादूभरे तरु की छाया में जीवन की एकता और ईश्वर के उस अभिन्न स्वरूप का भान होता जो धर्म और विभिन्न मतों के विवाद से परे है।

हम सब लामा लोगों की तरह मानो यरवदारूपी गरम तिब्बत के एकान्त मठ में रहते थे।

भारत में एक वीर और दुर्दान्त सेनानी के नाम से प्रसिद्ध यथार्थवादी सरदार में धार्मिक भाव का एक गंभीर अन्तःप्रवाह पाना एक सुखमय आश्चर्य था। न तो उनकी निश्चक्षण चतुरता और न उनके मानव दुर्बलताओं के कुशल ज्ञान ने उन्हें गांधीजी के प्रति भक्ति-भाव प्राप्त करने में बाधा पहुँचाई। यह एक ऐच्छिक आत्म-समर्पण था। उनके लिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की इस आज्ञा का पालन किया, 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—हे अर्जुन, तुम केवल कार्य-साधक बनो।

एक पुराने मित्र के नाते मैं खेरजी को एक बहुत ही धार्मिक व्यक्ति के रूप में जानता हूँ। बम्बई विश्वविद्यालय

के भाऊ दाजी-पुरस्कार-विजेता के रूप में उन्होंने संस्कृत के धार्मिक साहित्य का जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे उन्होंने सदा बनाये रक्खा। यरवदा में उनका दिन का अधिक भाग गीता-अनुशीलन में व्यतीत होता और वह आश्रम-भजनावली के अनेक भजन बड़ी भावुकता से गाते।

अपने सह-व्यवसायियों के प्रति अनीश्वरवादिता की ख्याति को डाक्टर गिल्डर ने स्वयं मिथ्या सिद्ध कर दिया। अनेक वर्षों की मित्रता के बाद भी मुझे इसका जरा भी भान न हुआ था कि वह इतनी गहरी धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्ति हैं।

नूरी को तो मैं जानता था कि वह एक भक्त मुसलमान हैं। यद्यपि मुस्लिम लीग के आलोचकों ने उन्हें कांग्रेस-सरकार के जमाने में काफिर की उपाधि दे डाली थी, फिर भी उन लोगों की अपेक्षा इनका इस्लाम धर्म का ज्ञान कहीं अधिक था। वह दिन में कई घंटे कुरान-सम्बन्धी साहित्य पढ़ा करते थे और हजरत मोहम्मद के जीवन के एक प्रमुख अंग पर एक विस्तृत निबन्ध लिख रहे थे।

पाटिलजी पैदायशी भक्त हैं। वह महाराष्ट्र के साधुओं, ज्ञानेश्वर और तुकाराम की परम्परा के भक्त हैं और उनका हृदय रागात्मक भक्ति के लिए उत्कंठित है। स्वभावतः भागवत और तुलसीदास की रामायण उनके स्वाध्याय के प्रिय ग्रन्थ थे।

मंगलदास पक्कवासा की—जो अब भी कुरसी और वेतन से अलग आदरणीय सभापति कहे जाते हैं—धार्मिक प्रवृत्ति यथावसर प्रकट होती थी। वह गीता पढ़ते थे

तथा निश्छल एवं सरल भाव से प्रार्थनाओं में सम्मिलित होते थे।

भूलाभाई पर भी सबका असर पड़ा। उस समय तक वह अपने जीवन में विशेष सफल रहे और उन्होंने धार्मिक शान्ति या प्रेरणा की कभी उपेक्षा नहीं की जिसकी कि अल्पसफलतावाले हमारे जैसे व्यक्ति किया करते थे। उनके चारों ओर जो धार्मिक वातावरण प्रसारित था उससे उन्हें एक सहृदयतापूर्ण खोज करने की प्रेरणा मिली। हम लोग एक साथ गीता का अध्ययन करने लगे और दैनिक जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर विचार करने लगे।

मेरी निजी समस्यायें भी थीं। इनका सम्बन्ध धार्मिक श्रद्धा या अनुभव प्राप्त करने से उतना न था जितना कि जीवन के आधार को फिर कायम करके उसे पहले की शक्ल देने से और उसमें शक्ति का संचार करने से था।

यहाँ पर हम लोगों के सम्बन्ध में किसी को यह भ्रांति न होनी चाहिये कि हम लोग भक्ति-वर्गीय थे और प्रत्येक क्षण धार्मिक उत्कट भावनाओं की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। तथ्य यह है कि हम सभी लोग विशेष रूप से मानवीय भावनाओं से युक्त थे। हम लोग कभी बातचीत करते, हँसते-गाते और कभी सूत कातते थे। हम में से कुछ लोग ताश खेलते थे, धूम्रपान करते थे और आपस में अनेक प्रकार की बातें करते थे जिनका सम्बन्ध किसी तरह से भी मजहब से न था। हम लोग बड़ी उत्सुकता से समाचारपत्र पढ़ते थे

और राष्ट्रों तथा सेनाओं की प्रगति के सम्बन्ध में भविष्य-वाणियाँ करते थे। हम लोग चिड़ियों और गिलहरियों को खिलाते थे और जैसा कि बन्दियों के लिए स्वाभाविक है, जेल की बिल्लियों को थपथपा कर उन्हें अत्यन्त पीड़ित करते थे। इन बिल्लियों का तो हमारे ऊपर विशेषाधिकार ही था क्योंकि इनके वंश का प्रारम्भ उस प्रसिद्ध बिल्ली से होता है जिसने सन् १९३३ ई० में गांधीजी की गोद में ही बच्चे दिये थे, जब कि वे आम्र वृक्ष के नीचे बैठे प्रार्थना कर रहे थे।

हम लोगों में आध्यात्मिक भावनाएँ जागृत करनेवाले गांधीजी ही थे। जो लोग परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उनके सम्पर्क में आये उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक आधारों की खोज के लिए एक विवश करनेवाली प्रेरणा का अनुभव किया। इस प्रकार इस पवित्र आम्र वृक्ष के पुण्य स्थल में हम लोगों ने धार्मिक अनुभवों का एक मनोहर संग्रह किया।

(सोशल वेल्फेयर से उद्धृत ता० २४ अप्रैल सन् १९४४ ई०)

(३)

एक दुर्निवार प्रलोभन

सम्पादक के पद की पुनः प्राप्ति का प्रलोभन मैं रोक न सका। मैं तो यथार्थ रूप से अथवा कानूनन बालकपन से लेकर सम्पादक तो था ही। मैं कोई पत्रकार नहीं हूँ, तब भी मुझे सम्पादक की कुर्सी का आकर्षण हमेशा रहा है। इससे पहले एक गुजराती मासिक पत्र की सम्पादकी मैंने छोड़ी थी और निश्चय कर लिया था कि फिर कभी इस काम में न पड़ूँगा।

जिसे मैं कभी भी स्वेच्छा से न करता उसे करने के लिये कर्त्तव्य मुझे प्रेरित कर रहा है। इस समय मेरा सम्पर्क ऐसे अनेक तथ्यों से था जिनकी यह माँग थी कि एक ऐसा पत्र निकाला जाय जिसमें अनुभवों का एकत्रीकरण हो, विचारों का विमर्श हो और जिसके द्वारा सब के हृदय में पहुँचा जाय।

नशेबन्दी की समस्या सामने थी। मद्य के प्रेमियों की इस सम्बन्ध में चाहे जो राय हो, पर यह अगणित आप-

तियों का मूलस्रोत रहा है। मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय है कि मद्य न पीनेवाला समाज ही सभ्य समाज हो सकता है। बम्बई-सरकार ने, जिसके साथ मेरा सम्बन्ध था, इस दिशा में एक बड़ा भारी प्रयोग किया। यह प्रयोग यद्यपि उस पुराने रूप में नहीं है, तब भी हमारे प्रान्त में किया जा रहा है। अतः जब नशा-विरोधी संघ के कई घनिष्ठ मित्रों ने बम्बई-सरकार द्वारा मद्य-निषेध और अन्य समाज-सुधार के लिये निकाली जानेवाली सोशल वेल्फेयर नामक पत्रिका को मुझसे फिर से चलाने का अनुरोध किया तब मैंने पूर्व निश्चित अनेक कार्य और स्वास्थ्य की गड़बड़ के कारण इस कार्य को न करना कर्त्तव्य पथ से मुँह मोड़ना समझा।

मुझे यह बता देना चाहिए कि बहुत दिनों से मैं सांस्कृतिक और सुधार के कार्यों के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की बात सोच रहा था और एक ऐसे रंगमंच की इच्छा कर रहा था जहाँ पर विचारशील लोग आज के भारत में समाज-सुधार के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विनिमय करें।

इन सब में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य सांस्कृतिक कार्य है। ऊपरी भेदभाव के होते हुए भी भारतीयों का सांस्कृतिक जीवन एक है जो समस्त देश में व्याप्त है। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर एक बृहत् सांस्कृतिक सामञ्जस्य स्थापित किया था जिसने सन् ११९० ई० में दिल्ली के मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाली थी, यद्यपि दैनिकजीवन के इस मार्मिक लक्ष्य को विद्वान् लोगों ने या

तो उपेक्षा की है या उसे गलत समझा है। स्वतः उत्पन्न होने-वाले सामाजिक आन्दोलन, जो जातियों को अधःपतन और अस्पृश्यता-दोष से निकालते रहे हैं, बिना लोगों का ध्यान आकृष्ट किये ही समाप्त हो गये हैं। आज के लोग तो अपनी ही कठिनाइयों को पैदा करने के फन में और विभिन्नताओं को महत्त्व देने में बढ़े-चढ़े हैं। ये लोग भारतीय जीवन के मूलभूत ऐक्य और आधार को भूल जाते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हम लोग बुरे दिनों में गिर चुके हैं। अतः हम लोगों को फिर से यथार्थता का ज्ञान कराने के लिए कैसे भी निर्बल और सीमित प्रयत्न की अत्यन्त आवश्यकता थी।

इसके बाद, दोषी या अपराधी माने जानेवाले बालकों की समस्या थी। मध्यवर्गीय बालक-शिक्षा-संबंधी भावों को मैं जानता था। मैंने अपराधी और निराश्रय बालकों के बारे में तब तक कुछ नहीं जान पाया था, जब तक कि एक सचिव के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत मैं 'बालक-सहायक-समिति' का उप-सभापति नहीं हो गया था। जब कभी मैंने इस संस्था का निरीक्षण किया है तब तब मैं उन अपरिपक्व और सदोष कहे जानेवाले व्यक्तियों पर—जो आशा से आप्लावित और स्नेह प्राप्त करने के लिए एवं पाप से निवृत्त होने के लिए समुत्सुक हैं—मुग्ध हो गया हूँ। ऐसे बच्चे बड़ी कठिन समस्या उपस्थित करते हैं। गरीबी और पाप के बीच में पैदा होकर ये दया को उद्भूत करते हैं, परन्तु समाज और सभ्यता के लिए एक प्रबल भय भी उत्पन्न करते हैं। इनका सुचारु

रूप से अध्ययन किया जाना चाहिए और यदि साध्य हो तो इन्हें सुधार कर पाप-पंक से बचा लेना चाहिए। यह संस्था एक प्रयोग इस सम्बन्ध में कर रही है जो भारत में सम्भवतः नया है। परन्तु नये प्रयोग नई कठिनाइयाँ भी प्रस्तुत करते चलते हैं और नये समाधानों की अपेक्षा करते हैं। अभी तो भारतवर्ष के अनेक भागों में इस प्रकार के प्रयत्नों की भावना भी जागृत नहीं हुई है। बालकों का पापाचारित्व, बालकों के लिए न्यायालय उनकी जाँच आदि ठीक ठीक न समझे जानेवाले शब्द है। अतः "अखिल-भारतीय अपराध-सुधार सभा" में सभापति के आसन से दिए हुए संभाषण में, मैंने बालकों के सम्बन्ध में खोज करनेवाली एक संस्था की स्थापना पर जोर दिया, जो कि अब बालकों की सहायक-समिति द्वारा कायम की जा चुकी है।

यदि यह अपेक्षित है कि किसी महकमे की जानकारी उसकी समस्याओं में दिलचस्पी रखनेवाले आदमियों को दी जाय, तो उसकी एक पत्रिका होनी चाहिए जिसके द्वारा विशेषज्ञ अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकें। "अपराध-सुधार-संस्था" का जन्म गत फरवरी में हुआ। शायद यह कुछ असामयिक था। भारत में ऐसे आदमियों की संख्या अधिक नहीं है जो इस समस्या में दिलचस्पी लेते हों, परन्तु यहाँ इस समय जो भी थोड़े बहुत लोग एकत्र हो पाये उन्हें अपराध-सुधार की प्रस्तुत समस्याओं की विवेचना करते रहने के लिए एक सूत्र में बाँधे रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ग्राम-सुधार की भी योजना है जिसका सम्बन्ध ग्राम,

ग़रीबी, पशुपालन और कृषि की समस्याओं से है। इन कार्यों के मूल में जो तर्क हैं उसमें सांस्कृतिक तथा रचनात्मक कार्यों से सम्बद्ध समाचार पत्र को केवल एक ही दिशा की ओर चलने का संकेत मिलता है। इस प्रकार यह प्रलोभन मुझे हुआ।

कुछ लोग संभव है इस प्रकार के साहसयुक्त कार्य को इस समय अनुपयुक्त समझें। इसमें सन्देह नहीं कि हिटलर की लड़ाई प्रत्येक व्यक्ति के ध्यान को अधिक आकृष्ट कर रही है। परन्तु इसे भी न भूलना चाहिए सांस्कृतिक और रचनात्मक आन्दोलन इतने सबल रूप से कभी नहीं संगठित और संचालित होते हैं जितना कि उस समय जब कि कोई महायुद्ध पुराने संसार को नष्ट करने की धमकी दे रहा हो। इस प्रकार भयंकर परिणामवाले संघर्षों का काल उस वातावरण को उत्पन्न करता है जिसमें पुरानी रचनात्मक शक्तियाँ अपने नवीन रूपों में अधिक श्रेयस्कर परिणामों की ओर संचलित होती हैं। उनका अध्ययन भी सबसे अधिक उपयोगी उसी समय है, जब कि यह संघर्ष की क्रिया हो रही हो।

परन्तु ऐसे अवसरों पर सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि एक ऐसी मनोवृत्ति बना रक्खी जाय कि जीवन नाशवान् नहीं है, प्रत्युत वह शक्ति, स्वातंत्र्य और आनन्द का रूप है। इस तरह मैं इस प्रलोभन में पड़ा, विशेषकर जब कि मेरे मित्र डा० सुब्बरोयाँ मेरे इस भार-धारण कार्य में साथ देने को सन्नद्ध हुए।

यदि हमारे प्रयत्न इनमें से किसी प्रयोजन की कुछ भी पूर्ति करें, तो जो जिम्मेदारी हम अपने ऊपर ले रहे हैं वह उचित समझी जायगी।

(सोशल वेल्फेयर से उद्धृत सितम्बर १९, सन् १९४० ई०)

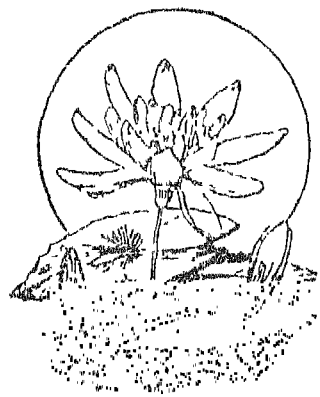

(४)

डायरी के पृष्ठों के संस्मरण

इस अंक के लिए लिखने की मेरी कोई इच्छा न थी। सहायक-संपादक और अन्य कर्मचारी इस अंक को मेरी साठवीं वर्षगाँठ से सम्बद्ध करना चाहते थे। अब वे मेरे कुछ संस्मरण चाहते हैं।

× × ×

लोग कहते हैं कि मैं साठवें जन्मदिन को प्राप्त कर रहा हूँ। मैं इतना वृद्ध हूँ इसके स्मरण के लिए कुछ प्रयत्न अपेक्षित है। मुझे तो इस अवस्था का भान नहीं होता है। जब मेरे पौत्र मुझे घेर लेते हैं तभी मैं यह जान पाता हूँ कि मैं कितना बुजुर्ग हो गया हूँ,—पर मैं बुजुर्ग होना चाहता नहीं। मैं तो पृथ्वीवल्लभ के समान प्रत्येक क्षण और प्रत्येक अनुभव से हर्ष का संग्रह करते हुए जीवित रहना चाहता हूँ।

समय की गति कितनी तीव्र है। और मैं पश्चात्ताप-रहित और स्वच्छन्द वही व्यक्ति बना रहा जो कार्य-प्रणाली निर्धारित करता है और अपने आपको स्व-निर्धारित

अनुशासन के आधीन करता है और तब भी मूल रूप में अपरिवर्तित रहता है।

आठ या नौ वर्ष की अवस्था में मैंने सर्व-प्रथम 'दिन-पत्रिका' (डायरी) लिखना प्रारम्भ किया था। अपना लक्ष्य मैंने इन्द्रियों का दमन और आत्म-पूर्णता बनाया था। वर्ष प्रतिवर्ष मेरी डायरी, जो अधिकतर कभी नियमानुसार नहीं लिखी गई, इसी निश्चय की साक्षी देती है।

× × ×

मैं बहुत ही कल्पनाशील तथा उद्धत व्यक्ति हूँ। प्रति-वर्ष मैं अपनी कल्पना की उड़ानों को वश में करने के लिए अपने को प्रोत्साहित करता रहा, पर उन्हें वश में करने में मैं वैसा ही असमर्थ आज भी हूँ जैसा कि तब था। मैंने बार-बार शपथ ली है कि मैं अपनी लेखन-शैली शुद्ध और परिमार्जित करूँगा, फिर भी—सदा की भाँति—अब भी वह शिथिल है।

× × ×

मैं अपनी अन्तःप्रेरणा के अविच्छिन्न स्रोतों को अपने स्मृति-पटल पर अंकित करता हूँ जिन्होंने मेरे व्यक्तित्व को गढ़ा है। मेरी माता, विश्वामित्र, वशिष्ठ, व्यास, परशुराम आदि पौराणिक महापुरुषों के उपाख्यान मुझे सुनाया करती थीं। ये मेरे प्राचीनतम संस्मरण हैं। छः या सात वर्ष की अवस्था में मैं क्रिकेट खेलने का बल्ला उठा लेता और उसे फरसा मानकर परशुराम के समान अभिनय करता। उनसठ

वर्ष की अवस्था में, अभी कुछ ही मास पहिले, मैंने अपना वैदिक उपन्यास समाप्त किया जिसमें विष्णु के छठवें अवतार, इन्हीं परशुराम, का चरित्र-चित्रण है।

सात वर्ष की अवस्था में जब मेरा उपनयन संस्कार किया गया तब मैंने वशिष्ठ, विश्वामित्र या व्यास बन जाने की और अपना एक आश्रम बनाने की बात सोची। गत वर्ष अपने वैदिक उपन्यास में मैंने पुनः वशिष्ठ और विश्वामित्र का विशुद्धरूप से चित्रण किया। गत छियालिस वर्षों में सभी ग्रंथों की रचना में अपने सुखद क्षण व्यतीत करते हुए मेरी कल्पना में ऋषियों का ही समावेश रहा है।

यह एक विचित्र बात है कि मनुष्य के आदर्शमय जीवन की मूलधारा उसके वास्तविक जीवन से कितनी विभिन्न है, तब भी इसके कारण किसी को कपटी नहीं कहा जा सकता। पर मेरे बचपन के दिनों में, मुझ पर, जो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, वह नेपोलियन के प्रति तथा अरविन्द घोष—जो किसी समय बड़ौदा कालेज में मेरे अँग्रेजी के अध्यापक थे—के प्रति मेरी श्रद्धा से उद्भूत था। उनके प्रारम्भिक ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे उस नई राष्ट्रीय भावना का ज्ञान हुआ जिसका वे प्रचार कर रहे थे। मैं कर्म-योग के प्रति आकृष्ट हुआ और मेरी तुच्छ आकांक्षा यह थी कि मैं सनातन-कर्म-चक्र का रूप बन जाऊँ, जैसा कि मैंने ही उसका नामकरण किया था। गीता और योगसूत्र मेरी अन्तः-प्रेरणा के युगल स्रोत थे, यद्यपि बौद्धिक भूमिका पर उन दिनों मैं स्पेन्सर के सिद्धान्तों में विश्वास करता था। मेरे

जीवन-वृत्त के भीतर ही मेरी ऋषित्व की अन्तर्चेतना बढ़ती ही गई।

× × ×

सन् १९३० ई० में मैं गांधीजी के प्रति आकृष्ट हुआ, विशेषकर इसलिए कि मैंने उनमें एक वैदिक ऋषि के दर्शन प्राप्त किया था। अपने हाल के अध्ययन में मैंने मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता के रहस्य की थाह पाने की चेष्टा की है जिससे कि ईश्वरता का भाव प्राप्त किया जा सके। मुझ जैसे सांसारिक मिट्टी के पुतले को अपनी प्रेरणा के मूल स्रोत को किसी ऐसे आदर्श के नैरन्तरिक चिन्तन से सबल बनाना पड़ता था, जिस आदर्श की प्राप्ति उसके लिए असंभव थी।

इसके साथ-साथ मैं "सौन्दर्याभिलाषी" रहा हूँ, वह सौन्दर्य जिसका सम्बन्ध जीवन, प्रभुत्व और पराक्रम से है। नेपोलियन जैसे व्यक्ति के पराक्रम में रोमन या आंग्ल-साम्राज्य के सुव्यवस्थित शासन-शक्ति में मैंने उसका दर्शन किया है, पर मुझे सबसे अधिक उसकी प्राप्ति हुई है प्रेमी, मित्र और पिता के मानवीय सम्बन्धों में।

संसार एक विचित्र स्थिति से गुजर रहा है। 'सौन्दर्य' की ओर वह आँख बन्द करने की कोशिश में है जो सौन्दर्य आनन्द का चिरन्तन स्रोत है। टाल्सटाय ने मनुष्य का सबसे बड़ा अपकार किया है, सौन्दर्य के प्रति अनुराग और मनुष्य के प्रति अनुराग के बीच भेद की एक कृत्रिम दीवाल खड़ी करके। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रचार उस समय किया था

जब उनकी वह अन्तःप्रेरणा नष्टप्राय हो चुकी थी जिसने उन्हें सौन्दर्य-सृष्टि की ओर प्रेरित किया था। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि 'बीथोवेन' (Beethoven) और शेक्सपियर ने अपना परिश्रम व्यर्थ किया। इसे मैं कभी नहीं समझ पाया। शेली का 'इपिसाइचाइडियॉ' (Epipsychydion) मीरा के गीत, गेटे की 'सारोज आव वरथर' (Sorrows of Werther), सप्फो के गीत (Songs of Sappho) ये सभी एक कलाकार के व्यथित हृदय से निकले थे। उन्होंने मानवता को लाभ पहुँचाया, यह एक आकस्मिक बात थी। अपने विश्वास के प्रति मैं कभी भी झूठा नहीं हो सका—विश्वास जो कि सौन्दर्य के सम्बन्ध में था—वह सौन्दर्य जो सौन्दर्य के लिए है—वह सौन्दर्य, जिसका किसी को लाभ पहुँचाने का कोई प्रयोजनात्मक उद्देश्य नहीं है। मैं उस साहित्य से घृणा करता हूँ जिसका उद्देश्य किसी सिद्धान्त का प्रचार है, चाहे वह प्रचार सदाचार के लिए हो, चाहे पंच-वार्षिकी योजना के लिए हो, या चाहे विश्व-प्रेम के लिये हो। यह सौन्दर्य की भावना ही है जो सप्फो (Sappho) और मीरा तथा शेक्सपियर, गेटे और शेली का मेरे साथ तथा मेरे समान व्यक्तियों के साथ युग-युगान्तर तक तादात्म्य स्थापित करता है।

× × ×

मेरी यह धारणा हो गई है कि पाश्चात्य संस्कृति मानवता के लिए अभिशाप है। उसके सिद्धान्तों के अनुसार उत्साह निरर्थक है। मृत्यु निष्प्रयोजन है श्रद्धा विश्वास

पाखण्ड है। आत्म-सत्ता में विश्वास एक खेदजनक भ्रान्ति है। जातीय अथवा व्यक्तिगत उपयोगिता के लिए और निजी लाभ के लिए सब लोगों को संघर्ष में पड़ना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य की आत्मा का अधःपतन हो रहा है, और वह निर्बल की जा रही है। सारे संसार में नैतिक शक्ति को नष्ट किया जा रहा है।

हम लोगों ने धर्म को छोड़ दिया है। हम साम्यवाद का स्वागत करते हैं। पर मूलभूत शक्ति तो वही विश्वास है। हमने ईश्वर का, महापुरुषों का, आत्मसाक्षात्कार की प्रेरणा का—जो सबल जीवन का मूलाधार है—त्याग किया है और उसके स्थान पर ईश्वर-पिता रूप में लेनिन ईश्वर पुत्र-रूप में स्टालिन और ईश्वरीय राज्य-रूप में रूस को और निर्जीव भौतिक वाद की अन्दरूनी ताक़त को अपनाया है। नवयुवक तथा युवतियाँ साम्यवाद को स्वीकार करती हैं क्योंकि वह मनुष्य के भाग्य में वह विश्वास उत्पन्न करता है जिसको पश्चिम के मूर्ख लोग उस निषेधात्मक सम्प्रदाय के द्वारा, नष्ट करते हैं जिसे हम बुद्धिवाद कहते हैं।

मैं प्रजातंत्रों की ओर देखता हूँ और भयभीत होता हूँ। भारतीय प्रजातंत्रवादियों को छोड़कर अन्य प्रजातंत्रवादी एक उखड़ी हुई शक्ति हैं। वे पूर्ण रूप से पराभूत हैं। उनके उद्देश्य संशयों के कारण नष्टप्राय हैं, उनमें संघर्ष के लिये संगठित शक्ति की कमी है। उनकी महत्ता विलीन हो चुकी है। उनके विजय के गीत उनके कण्ठों में ही अवरुद्ध हैं क्योंकि उनके नेता हमारे पुराने मित्र स्मट्स के समान हैं,

जो भाषा तो साम्यवादियों की बोलते हैं परन्तु चलते हिटलर के पद-चिह्नों पर हैं।

अरे! मुझमें शक्ति होती तो मैं विश्वास की नदियाँ प्रवाहित कर देता। प्रत्येक पर्वत-शिखर से मैं प्रोत्साह की ज्वालायें निकालता। मेरा हृदय हतोत्साह या मन्दोत्साह न होता। मेरी उत्कट इच्छा है कि कोई व्यक्ति इस असभ्य संसार को विश्वास और आदर्शों की उच्च भूमिका पर ले जाने को उठ खड़ा हो जाय।

× × ×

जीवन का आधार शक्ति है। मुझे "परिणामों" से चिढ़ सी है आज का मानव जिनके पीछे पड़ा है। "परिणाम" फूलों के मानिन्द हैं जो सबेरे खिलते और शाम को मुरझा जाते हैं। परिस्थिति से पराभूत न होनेवाली शक्ति ही केवल एक वस्तु है जो बनी रहती है। मेरी सदिच्छा है कि कोई व्यक्ति शक्ति का झंडा लेकर हमारा नेतृत्व करे। हमारे शत्रु केवल भीरुता, परिश्रान्ति और आपस की फूट ही हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हम अपराजिता शक्ति के पुजारी हो जायँ जिस शक्ति का आधार विश्वास है—जो समय की परिधि और मानवीय पशु-धर्म के परे है।

× × ×

सत्य और असत्य में अन्तर केवल एक शब्दजाल है जिसे अपने को काबिल समझनेवाले लोगों ने रचा है। जो कुछ जीवन को उन्नत करता है वही सत्य है। जो कुछ जीवन को विश्वास और उत्साह से अनुप्राणित करता है वही सत्य

है। वही केवल पराभव पर विजय प्राप्त करता है। वही केवल हमें सांसारिक दुःखों के ऊपर और उनके परे ले जाने में समर्थ होता है.....अप्राप्य के लिए ही संघर्ष करते रहना——निरन्तर और हर दशा में——मनुष्यता है।

(सोशल वेल्फेयर से उद्धृत, दिसम्बर, सन् १९४६ ई०)

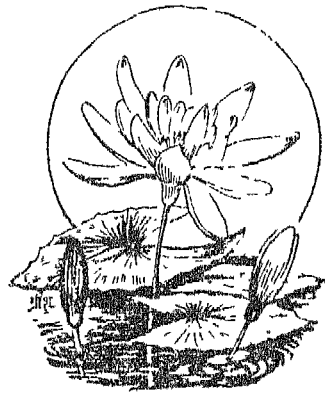

(५)

सिंहावलोकन

मैं यथार्थ में नहीं जानता कि आपको किस प्रकार धन्यवाद दूँ। यदि मैं दूसरे लोगों के विषय में अदालत से कुछ कह रहा होता, या मैं किसी व्यक्ति का या किसी बात का विरोध कर रहा होता, तो मैं बहुत कुछ कह सकता था। पर मैं यहाँ आपके स्नेह-भार से बहुत ही दबा हुआ हूँ।

मैं साठ वर्ष का हो गया हूँ। पर मैं अपने को वैसा ही नौसिखिया मानता हूँ जैसा कि मैं आरम्भ में था। एक लुढ़कते हुए पत्थर की भाँति जो अपने ऊपर काई नहीं जमने देता, मैंने न तो ज्ञान, न अनुभव और न बुद्धिमानी का ही संग्रह किया, परन्तु उस पत्थर के विपरीत मैंने अनेक मित्रों का संग्रह अवश्य किया है। मैं ईश्वर को इसके लिए धन्यवाद देता हूँ।

अपनी आत्म-कथा की एक जिल्द का नाम मैंने "सीधी चढ़ाई" रक्खा है। मेरा सम्पूर्ण जीवन एक सीधी चढ़ाई रहा है—कमजोर बालकपन की अवस्था से लेकर

साधारण तथा अच्छे स्वास्थ्य वाली साठ वर्ष की अवस्था पर पहुँचना, ५) रु० मासिक खर्चवाले भोजनालय के आनन्द से लेकर उसकी अपेक्षा अधिकाधिक सुखोपभोग करना, नितान्त अप्रसिद्धि से लेकर किसी हद तक प्रसिद्धि प्राप्त करना, दो वाक्यों की ठीक-ठीक रचना की असमर्थता से लेकर, गद्य के प्रत्येक क्षेत्र में लगभग पचास ग्रन्थों को लिखना—यह रहा है मेरा जीवन। परन्तु मेरे ऊपर ईश्वर अवश्य प्रसन्न रहा है। मैं निस्सन्देह बड़े प्रयत्न से चढ़ा परन्तु मुस्कुराते हुए, खेलते हुए और दौड़ते हुए। मैं कभी-कभी गिरा भी पर मार्ग में मैंने सुन्दर पुष्पों का चयन किया है और प्रत्येक नया दिन मेरे लिये नित्य नया आनन्द प्रदान करनेवाला हुआ है।

मैंने निरन्तर, पराजय नैराश्य और अकर्मण्यता के खिलाफ मोर्चा लिया है। मैंने जीवन से सम्बन्धित उस प्रत्येक दार्शनिक-विचार धारा के विरुद्ध संघर्ष किया है जिसे मैंने मिथ्या समझा। मुझे सफलता मिली, पर मैं उससे संन्तुष्ट न हुआ। मैंने रुपया पैदा किया, पर सारे समय उसे कमाते रहने में मुझे सन्तोष न हुआ। सन् १९३० ई० में मैं काफी तौर पर लोक प्रिय हो गया था। एक हजार से अधिक आदमी विक्टोरिया टरमिनस पर मुझे लेने आये थे। मैं जनता में अप्रिय भी रहा हूँ। आलोचकों ने तो मुझे देश और गांधीजी के प्रति धोखे बाज तक कह डाला है—मेरे गुरु गांधीजी के प्रति—जिनके स्नेह और विश्वास को मैंने संसार के अनेक पदार्थों की अपेक्षा, अधिक प्रिय समझा है। मेरे लेखों की निन्दा भी हुई है और प्रशंसा भी।

मैं प्रशंसा या निन्दा के प्रति निरपेक्ष हूँ। यह भावना अहंकार का परिणाम नहीं है, इसे मैंने एक लंबे और प्रयत्न-साध्य संघर्ष में पड़कर प्राप्त किया है। "प्रशंसा या निन्दा से निरपेक्ष रहो" भगवान् कृष्ण के इन वचनों से मुझे सबसे बड़ी शक्ति मिली है।

अनेक लोगों के समान मैंने भी अपने विचारों को छिपाया है और अक्सर जिस बात को मैंने उचित समझा उसके विरुद्ध मैंने आचरण भी किया है। पर जहाँ तक मुझे याद आता है, मैंने मन, वाणी और कर्म के वैषम्य से घृणा की है।

इनमें सामञ्जस्य प्राप्त करना एक कठिन और लम्बा संघर्ष था। मैं अक्सर बल और साहस पाने के लिए समुत्सुक होता, पर मैं निर्बल, कोमल हृदय और भीरु था। मैं चाहता तो था कि मेरे शब्द प्रदीप्त तीर की तरह चुभते, पर मैं लजीला और सशंक था और भली-भाँति भाषण करने में असमर्थ था। मैं उत्कट और व्यापक स्नेह चाहता था, पर मेरे जीवन के चारों ओर जो वातावरण था उसमें उसका कोई अवसर न था। मैं चाहता था कि मातृ-भूमि सबला हो पर मैंने उसकी सन्तान को गुलामी में जकड़ा हुआ पाया। अपने पूर्वजों के समान मैं ऋषि बनना चाहता था, पर मैं धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक जटिलताओं के दायरे से जकड़े हुए ब्राह्मण-बालक के अलावा कुछ भी न था। चन्द्रमा पकड़ने की चेष्टा करनेवाले बालक के समान मैंने अपने काल्पनिक संसार को यथार्थता में परिणत करने की बड़ी चेष्टा की थी।

मैंने उत्कट लालसा की, मैं रोया चिल्लाया और बहुत छट-पटाया भी। कभी-कभी तो मैंने आत्मघात करने की भी सोची। पर मैं काम करता गया। मैं न तो कोई दार्शनिक था न बहुत बुद्धिमान् था, पर मेरा हृदय उत्कट अभिलाषाओं से और मेरी आत्मा अदमनीय हलचल से, ओत-प्रोत थी। आत्मोन्नति के लिये बृहत् और मूर्खता पूर्ण कार्यक्रमों द्वारा मैं जिसे नैरन्तरिक कर्म चक्र कहता था, उसका ही स्वरूप हो जाने के कष्टकर प्रयत्न द्वारा, तथा अधूरी की गयी योग क्रियाओं के अभ्यास के लिये बालोचित प्रयत्नों द्वारा, मैंने अपनी कल्पना, वाणी और यथार्थता में सामञ्जस्य स्थापित करने की कोशिश की····पर इसके स्थान पर मैंने गड़बड़ी ही उत्पन्न की।

फिर भी, इस गड़बड़ी के मध्य में भी किसी पदार्थ विशेष ने मुझे आगे ही बढ़ाया। वह पदार्थ था तो अप्राप्य पर उसने मुझ में बड़ा ही उत्साह उत्पन्न किया। नैपोलियन के महान् कार्य, दयानन्द के उग्रसिद्धांत, श्रीअरविन्द की दिव्य-दृष्टि सबने इसी पदार्थ-विशेष पर प्रकाश डाला था। कभी-कभी इसने छाया का, सौन्दर्य के स्वप्न का, रूप धरा, और जो सौन्दर्य और शक्ति मुझे यथार्थ जीवन में नहीं मिली थी, उसे मैंने कल्पना द्वारा उत्पन्न करने की चेष्टा की और इस प्रकार मैंने उन्हें वाणी द्वारा सजीवता प्रदान की। मेरी नवीन अनुभूतियाँ मेरी कल्पना में उत्तेजक स्थितियाँ बन गईं। मेरी समस्याओं ने नायक और नायिकाओं का रूप धारण किया। मेरी अव्यक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति उनके वचनों

में हुई। यथार्थता ने, याने गरीबी की समस्या ने और अपने इस भयावह नगर में अपना कर्त्तव्य मार्ग निर्धारित करने की कठिनाई ने मुझे पीछे ढकेला, परन्तु इससे मैं एक साँचे में भी ढल गया।

मैं काल्पनिक नाटकों के लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुआ। मन, वचन और कर्म में सामंजस्य प्राप्त करने के प्रयत्न को मैंने करीब-करीब छोड़ दिया। मेरे पास योग-सूत्र तो था ही, जो दिन रात मेरा पुण्य-पाठ का ग्रन्थ था, यद्यपि सांसारिक उद्देश्यों के लिए ही, उसके अनुकूल आचरण किया जाता था। फिर मैंने महाभारत का अध्ययन किया जो जीवन का एक महाग्रन्थ है। यह सन् १९२२ ई० की बात है कि मैं एक सफल वकील और लेखक के आत्मसन्तोष से मानो हिलाकर जगाया गया।

वह पदार्थ विशेष, जो मेरा नेतृत्व कर रहा था, एक अग्नि का स्तंभ बन गया यद्यपि वह अभी धुएँ, से आच्छादित था। मानो उसके जादू भरे प्रभाव से मेरा सौन्दर्य का स्वप्न सजीव हो उठा। मेरा स्वप्न यथार्थता बन गया, तब भी वह किसी भी स्वप्न की अपेक्षा अत्यधिक अलभ्य था। योग की जो कुछ थोड़ी बहुत शिक्षा मुझे मिली थी उसकी सहायता से, आजमाइशों और मुसीबतों के सख्त जमाने से गुजरते हुए, मैंने अपनी सारी शक्तियों को, जीवन में सजीव बने हुए उस अलभ्य सौन्दर्य को नष्ट होकर शून्यता के गर्भ में विलीन होने से बचाने के लिए, एकत्रित किया। आश्चर्य जनक आकस्मिकता के साथ मेरा स्वप्न अचानक यथार्थ

हो गया। इस प्रत्यक्षीकरण के अवसर पर दो सच्चाइयाँ जो आर्य संस्कृति में मूल रूप में सम्बद्ध हैं, परन्तु जिनका साक्षात्कार मुझे इसके पहिले नहीं हुआ था, मेरे चौंधियाये नेत्रों के सामने प्रकट हुईं।

मेरे व्यक्तिगत स्वभाव ने ही मेरे जीवनमार्ग को निर्धारित किया। इसी मार्ग का अनुसरण मेरे व्यक्तित्व का सिद्धांत था। मेरे लिए इससे इतर सिद्धांत मिथ्या और भयावह था। जीवन के इस सिद्धांत की पूर्ति के लिए किसी क्षण भी मृत्यु के लिए तैयार रहना ही मेरा, आत्मसाक्षात्कार था। यह उन दो सत्यों में से पहला सत्य था।

जिस दूसरे सत्य का मैंने साक्षात्कार किया, उसने एक बार में ही और सदा के लिए रचनात्मक कला और रचनात्मक जीवन के भेद रूपी पर्दे को हटा दिया। जब कभी किसी पदार्थ या अनुभव के सम्बन्ध में मेरे चित्त की एकाग्रता इतनी निश्चल, स्पष्ट और तीव्र होती कि मेरा अहंभाव गुम हो जाता, तभी वह रचनात्मक हो जाती, और रचना होने लगती।

श्री कृष्ण और पतंजलि जैसे महापुरुषों ने इनही तथ्यों को संसार को सिखाया था। मेरा यह सौभाग्य था कि मैं समान एक विनम्र और सांसारिक पुरुष, यथार्थ जीवन में इन तथ्यों के रहस्यों को ग्रहण करूं। "सुन्दरम्" का स्वप्न जिसके लिये मेरी उत्कट आकांक्षा रही थी, इस प्रकार मेरे लिए एक सत्य और सजीव यथार्थता बन गया।

वह अग्नि स्तम्भ, ज्यों-ज्यों मुझे आगे बढ़ाता गया एक

निश्चित आकृति धारण करता गया दुःख और पराभव के तुषार को हटाते हुए और मुझे अंधकार से प्रकाश में ले जाते हुए। एक क्षण के लिये उसने गांधीजी का रूप धारण किया। मैंने देखा कि जिन तथ्यों को मैंने पकड़ा था वे उनके जीवन में मूर्तिमान् थे। तब एक दिन संध्या के समय, बड़े ही उत्कट प्रभाव से अनुप्राणित कल्पना के आवेश में, उस आलोक से मैं अन्धीभूत हो गया। पर उस क्षण में आर्य संस्कृति में मेरा विश्वास, कई गुना दृढ़ हो गया।

उस विचित्र प्रकाश में मैंने अनुभव किया कि मैंने श्रीअरविन्द और गांधीजी के रहस्यों को, एवं जीवन के सनातन और व्यापक नियम के रूप में भारतीय संस्कृति के रहस्यों को, समझ लिया है। मन, वाणी और कर्म का ऐक्य-रूपी सत्य, मानव व्यक्तित्व के आत्यन्तिक तादात्म्य की प्राप्ति के लिए एक सीढ़ी के रूप में मेरे समक्ष आविष्कृत था वह तादात्म्य जो नैतिक कार्य कारणभाव के नियम के कठोर पालन द्वारा प्राप्त होता है और जिस पर कि समग्र विश्व का नियमन निर्धारित है।

परन्तु सत्य को समझना एक बात है उस पर चित्त एकाग्र करना दूसरी बात है और रचनात्मक एकाग्रता द्वारा उसका साक्षात्कार बिलकुल ही भिन्न बात है....अतएव अतिशय रूप से कठिन भी।

मैंने आर्य संस्कृति सम्बन्धी घटनाओं को....उनके विस्तार, उसकी विषम परिस्थितियाँ, उसके विजय और उसकी अनश्वर शक्ति को हृदयंगम करने की चेष्टा की है।

मेरे अँग्रेजी भाषा में लिखे गये ग्रन्थ—गुजरात और उसका साहित्य, पश्चिमी किनारे के आर्य, शाही गुरजर, जीवन की रचनात्मक कला, भगवद्गीता और आधुनिक जीवन,—मेरे इसी विषय के अध्ययन की स्वल्प चेष्टा के परिणाम हैं। मैं जानता हूँ कि जिस चित्र को मैंने अंकित किया है वह केवल एक धुँधला और अपूर्ण ढाँचा है—उस तथ्य का, जिसे मैंने दृष्टिगत किया है। मेरी उत्कट आकांक्षा है कि मुझ में एक महान् कलाकार व्यास, होमर, फिडिअस, माइकेल अंजिलो के समान, रचनात्मक कला की स्फूर्ति होती।

मेरे क्रियाशील जीवन में, वही अग्निस्तम्भ प्रायः अनजान में ही मुझे कर्म-पथ पर आगे बढ़ाता रहा है। एक व्यवस्थित शासन की परम्परा का निर्माण, अखंडभारत के सिद्धांत का प्रचार, वह रचनात्मक प्रयत्न जिसके साफल्य की चरम सीमा भारतीय-विद्या-भवन के रूप में प्रस्तुत है, एवं अपनी कल्पना के अनुरूप भारतवर्ष को एक स्वतंत्र बलशाली आर्यावर्त के रूप में फिर से कायम करने की थोड़ी बहुत कोशिश—ये सब मेरी अन्तः प्रेरणा के मूर्त्त रूप हैं, जो प्रेरणा मेरी नहीं है, वरन् मुझे दी गई है। क्योंकि मैं जानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि मैं मिट्टी का पुतला हूँ और एक सांसारिक प्राणी हूँ। व्यक्तित्व का क्रियात्मक सामंजस्य जिसके बिना रचनात्मकता संभव नहीं है मेरे जैसे व्यक्ति के लिए नहीं है। मोह, भय और क्रोध को रोकना भी मेरे लिए सुकर नहीं रहा है इनको जीत लेना तो बात ही दूसरी है। आप लोग कहते हैं कि मैंने कुछ कार्य सम्पन्न किया है पर

मैं जानता हूँ कि मैंने कुछ भी नहीं किया है। मैंने तो अपनी निगाह उस अग्नि-स्तम्भ पर रखने की कोशिश की है जो किसी समय तो स्पष्ट रहा, कभी मन्द प्रकाश से समाकीर्ण रहा और जो कभी मेघ में विलीन सा हो जाता रहा है। मुझे तो केवल उसके प्रकाश का अधूरा और अस्थिर रूप ही प्राप्त हो पाया है—उस निर्बल माध्यम द्वारा जिसे मैं निज को ही मानता हूँ।

(ता० ७ जनवरी सन् १९४७ ई० को भारतीय विद्याभवन बंबई में मनाई गयी अपनी ही हीरक जयन्ती उत्सव के अवसर पर दी गई बधाई के उत्तर में दिया गया भाषण)

(६)

सौन्दर्य का सम्प्रदाय

पिछले दो महीनों से मैं लोगों की कृपा के भार से आक्रान्त रहा हूँ। मेरी साठवीं वर्षगाँठ मनाने में वृद्ध और युवा, सभी सम्मिलित हुए हैं। अभी पिछले सप्ताह में ही 'कविबाई स्कूल' और 'बम्बई कालेज' की सभी गुजराती संस्थाओं ने मुझे बधाइयाँ दी हैं—

विद्यार्थियो! तुम्हारे मध्य में मैं सदा अपने को सामाजिक बन्धनों से मुक्त समझता हूँ। तुम में और मुझमें बहुत सी बातें समान हैं। मेरे चाहे जितने जन्म-दिन हो चुके हों, मैंने विद्यार्थी बने रहने से विराम नहीं लिया है। मेरी अब भी कुछ लालसा है। दूसरों की प्रतिष्ठा करने की इच्छा का मैं अनुभव करता हूँ। मुझे बड़प्पन से कुछ भय सा लगता है। क्या ये बातें मुझे विद्यार्थी प्रमाणित करने के चिह्न नहीं हैं?

परन्तु उन दिनों से, जब कि मैं विद्यार्थी था और वर्तमान समय में, जब कि तुम लोग स्कूल और कालेज में हो

बहुत बड़ा अन्तर है। तुम कुछ बातों में भाग्यशाली हो और कुछ में बदकिस्मत हो तिरपन वर्ष हुए गोरे प्रभु हमारी मातृभूमि पर शासन करते थे। तुम में से जिन लोगों ने मेरी आत्मकथा पढ़ा है, उन्हें सम्भवतः एक छोटी सी घटना याद होगी जिसने मेरे मस्तिष्क पर एक अमिट छाप अंकित किया है।

मैं अपने पिता का अतिशय आदर करता था। वे बड़े दृढ़, सत्य-वादी और ईमानदार मनुष्य थे, और सरकार की सेवा अपूर्व शुद्धमति से करते थे। सर फ्रेडरिक लेली ने—जो पुराने आई० सी० एस० अधिकारी थे—एक बार उनका जिक्र करते हुए कहा था, कि वे साम्राज्य के—अर्थात् गोरे आदमियों के साम्राज्य के—आधार और स्तम्भ हैं। एक बार गोरे 'बड़े साहब' ने—जो मेरे पिता के अफ़सर थे—एक हुक्म निकाला कि उनसे मिलने आने वालों की सवारियाँ फाटक के दरवाजे पर ही रोक ली जायँ। पटटेवाले * ने जब यह हुक्म मेरे पिता को बतलाया तब मैं अपने पिता के साथ था। उनका चेहरा क्रोध से लाल हो गया। पहले के अंग्रेज अफ़सर उनके साथ अत्यन्त आदर का बर्ताव करते थे। फल यह हुआ कि हमारी गाड़ी हाते के बाहर खड़ी की गई। मेरे पिता अपने क्रोध को रोके हुए गाड़ी से नीचे उतरे—अभिवादन करने के लिये—उस गोरे आदमी को, जो बिना किसी दंड-भय के, एक सज्जन और सच्चे भारतीय का अपमान कर सकता था, और जिसकी जाति, हमारी जाति को गुलामी में रक्खे थी। उस रात्रि को मैं उस अपमान पर

* चपरासी।

बहुत झुँझलाया। मैं इस घटना को कभी भूला भी नहीं और जब कभी मैं अंग्रेजों की अभद्रता को देखता हूँ तभी उसकी याद आने से मैं आगबबूला हो जाता हूँ।

इस घटना को हुए पचास वर्ष हो चुके हैं। अभी करीब तीन महीने बीते होंगे कि एक हिन्दुस्तानी दुकानदार ने एक गोरे अफ़सर की पत्नी से दुकान के बाहर निकल जाने को कहा, क्योंकि वह उसकी बात बर्दाश्त न कर सका था। उसके पति ने इस बात की मुझसे यह शिकायत की। मुझे खेद हुआ कि एक भारतीय अपने को इस प्रकार भूल सकता है—लेकिन पुरानी घटना मेरे दिमाग़ में चक्कर काट गयी। घड़ी की चाल अब पूरी हो चुकी थी। अब गोरे लोगों का कोई डर नहीं रहा था। अब तो भारतीय दिल्ली पर राज्य करते हैं; अन्ताराष्ट्रीय महा सभाओं में संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, तथा संसार को प्रभावित करने के लिये निकल पड़े हैं।

जब मैं कालिज में पढ़ता था, दादा भाई नौरोजी का, ब्रत्तानिया की विधान-सभा में प्रवेश पाने का अभिनन्दन, मुक्ति के दिवस की नाईं, किया गया था। इस समय हम इस बात से भी असंतुष्ट हैं कि पंडितजी केवल मध्यकालीन सरकार के उपसभापति हैं, न कि स्वतंत्र-भारतीय-संघ के सभापति।

तुम लोग इसलिए भाग्यशाली हो। एक तरह का भद्दापन दूर हो गया है। पर तुम लोग बदकिस्मत भी हो, क्योंकि तुममें दूसरे प्रकार का भद्दापन बलपूर्वक आ ही गया है जिससे कि हम लोग मुक्त थे।

हम लोगों के स्कूल के दिनों में हमारी सांस्कृतिक भित्ति का निर्माण हमारे बुजुर्गों के जरिये होता था जो हर रात हमें हमारे वीरात्मा पूर्वजों के उपाख्यान—व्यास और वाल्मीकि के वर्णनानुसार—सुनाते थे। तुम्हारे माता-पिता उन्हें भूल गये हैं। तुम्हारे अध्यापक पाश्चात्य प्रभाव में फँसे हुए तुम्हें परीक्षा के लिए तैयार कराने में इतना व्यस्त हैं, कि उन्हें तुम्हारी सांस्कृतिक भित्ति की देखरेख का अवकाश ही नहीं है। पाश्चात्य आधुनिक सिद्धान्तों का विज्ञापन भी इतने ओरों से किया जा रहा है कि तुम्हें वह सर्वनाश दिखता भी नहीं है जिसकी ओर तुम प्रेरित किये जा रहे हो। एक निर्जीव पाश्चात्य सभ्यता तुम्हारी आत्मा को नष्ट किए दे रही है। पदार्थों के ग़लत मूल्यांकन तो वायु की भाँति प्रसरित हैं और सही-सही तुमसे छिपाये जा रहे हैं। इस लिहाज से तुम बद-किस्मत हो।

परन्तु जो बधाइयाँ तुमने मुझे दी हैं वे तुम्हारी आत्मा से निस्सृत हैं। वे मेरे लिए नहीं हैं। ये मुझे दी गई हैं क्योंकि मैंने वर्णनातीत सौन्दर्य को सुव्यक्त करने की चेष्टा की है—चाहे यह कार्य स्वल्प परिमाण में ही क्यों न हुआ हो।

सौन्दर्योपासकों का सम्प्रदाय विश्वव्यापी है। यह मानव-निर्मित नियमों से विनिर्मुक्त, तथा जाति—वर्ण—धर्म के घेरे से या राष्ट्रीय सीमाओं से अविभाजित है। इस सम्प्रदाय के ऋषि व्यास और वाल्मीकि के समान आत्मायें थीं, होमर कालिदास और भागवत के रचयिता; सप्फो, हफ़ीज और मीराबाई; दान्ते, तुलसीदास, शेक्सपियर, गेटे, शेली, ह्यूगो और ड्यूमा थे।

सौन्दर्य के लिये उत्कट इच्छा—सौन्दर्य जो शब्द में, वर्ण में, पत्थर में, जीवन में, आचरण में प्रकट होता है—भिन्न-भिन्न काल या जातियों और देशों द्वारा निर्धारित अस्थिर परिधियों से परिसीमित नहीं होती। इस तीव्र अभिलाषा की पूर्ति सबके लिए नहीं है। सौन्दर्याभिलाषा के तुष्टीकरण की क्षमता कानून या जन-साधारण की राय अथवा लोगों के वोट या किसी चालाकी के कौशल से प्राप्त नहीं की जा सकती। पर जिन्हें यह क्षमता दी जाती है उसका एक ही नियम है—सौन्दर्य का आनन्द लेना, सौन्दर्य की रचना करना और यथासंभव दूसरों को उसका दर्शन कराना।

हम लोग अन्धकारपूर्ण युग से गुजर रहे हैं। सौन्दर्य का मूल्य घट गया है। अच्छे जीवन का चिह्न असभ्यता है। न्यूनतम मूल्य उच्चतम जीवन की व्यवस्था का प्रायः आधार बनाया जाता है। ऐसे जमाने में, स्वभावतः यथार्थ सौन्दर्य की अथवा तुच्छ विभीषिकाओं या घृणा के प्रभाव से मुक्त आनन्दमय जीवन की, या व्यक्तित्व को जीवन के निम्न-स्तर से ऊपर उठानेवाली अनुरूपता की, थोड़ी ही गुणग्राहकता सम्भव है। मैं किसी हद तक इसे एक वरदान समझता हूँ कि जिस सौन्दर्य का स्वप्न मुझे बार बार हुआ है उसका दर्शन मैं दूसरों को कराने के योग्य हूँ।

परन्तु मुझे किसी प्रकार की मिथ्या प्रतीति नहीं है। अन्तिम दो पीढ़ियों में मेरी साहित्यिक कृति गुजरात में शिव के गले में निहित विष की नाईं पहुँची जिसे न तो वह बाहर

फेंक सकता था न निगल ही सकता था। मेरे अनेक पाठकों ने मेरे ग्रन्थों को बड़े चाव से पढ़ा है। अनेकों को मेरे किसी-किसी ग्रन्थ से आघात सा हुआ है। कुछ को यह आघात यथार्थ रूप से हुआ—कुछ को इस रूप में कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा में बाधा न पहुँचे। परन्तु मेरा कार्य तो यथार्थमय जीवन से सम्बद्ध रहा है न कि उस प्रकार के जीवन से जैसा कि पाखण्डियों या साधुओं के अनुसार होना चाहिए। और तब भी मैं अपने को नकली यथार्थवाद के अनुकूल नहीं बना सका जो साहित्य को एक परनाले के निरीक्षक की रिपोर्ट के स्तर पर पहुँचाता है।

सच्चा साहित्य मनुष्य के अनुभव को दर्पण की भाँति प्रकट करता है पर उसकी आवरणरहित असभ्यता को नहीं। यह अपेक्षित है कि साहित्य का विषय होने के लिए यह अनुभव पहले रचनात्मक कल्पना में उद्भूत हुआ हो और हृदय को स्पर्श करनेवाली विश्व व्यापकता के अनुरूप उसका खाका खींचा गया हो। इसके बाद उसका प्रकटीकरण संकेतों द्वारा—शब्दों या चित्रणों द्वारा—इतने सजीव रूप से हुआ हो कि दूसरे मनुष्य की कल्पना उससे जागृत हो और उसकी सौन्दर्य-भावना हर्षोन्माद से भर जाय।

यह साहित्य ही की क्षमता है कि व्यास से लेकर आगे तक वह मनुष्यमात्र की सबसे बड़ी बपौती रहा है। जो कुछ मैंने लिख मारा है वह इस भावना के अनुकूल है या नहीं यह न तो मेरे कहने की बात है और न तुम्हारे, वरन् आगे

आने वाली पीढ़ियों के— हाँ यदि उस समय तक मेरे ग्रन्थ बने रहे तो।

(ता० २० फरवरी, सन् १९४७ को बम्बई के सेन्ट जेवियर्स कालिज (St. Xavier's College) के गुजराती लिटरेरी असोसियेशन द्वारा संयोजित, स्वागत के अवसर पर, हीरक जयन्ती के उपलक्ष में, दी गई बधाइयों का उत्तर)

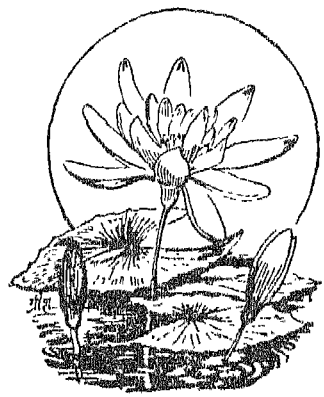

द्वितीय भाग

(१)

भक्ताधीन

गाँधीजी की मृत्यु हुए पौने दो वर्ष बीत गये, तब भी मेरे चित्त में अब तक एक प्रकार की शून्यता बनी हुई है। मुझे संसार का भान विचित्र रूप में हो रहा है—ऐसा संसार, जिसमें व्यक्तिगत भावना के अनुसार एक गहन और आवश्यक पदार्थ का अभाव है। गाँधीजी संसार के लिए महान् थे,—राष्ट्र के निर्माता और अहिंसावाद के देवदूत। परन्तु ये सब प्रशंसात्मक उपहार बुद्धि से निर्गत हैं, व्यक्तिगत शून्यता का भाव तो एक गम्भीरतर स्रोत से उत्पन्न होता है। वे मेरी रग-रग में प्रविष्ट थे। वह समय आ गया है जब कि गाँधीजी की महत्ता की मर्यादा का निर्धारण अनिश्चित शब्दों में न किया जाकर, उनकी महत्ता के विस्तार को—जो उनके छोटे से छोटे कार्यों में व्याप्त था—प्रमाणयुक्त परिलेख द्वारा किया जाय।

भगवद्गीता में ईश्वर को "सर्वत्रगम्"—अर्थात् सर्वत्र व्याप्त कहा गया है। एक संकुचित अर्थ में, गाँधीजी उन सबों के हृदय में प्रवेश कर जाते थे जो उनके निकट सम्पर्क में आता था। यदि आप अपने हृदय के कपाटों को उन्मुक्त किये हैं, तो वे उसमें प्रविष्ट हो जायँगे और वहाँ टिक जायँगे। तब धीरे-धीरे और अज्ञात रूप में आपके सभी विचार और कार्य उनकी अनुमति की कसौटी पर कसे जाने लगेंगे। उस स्थिति में वे केवल एक नेता या महान् व्यक्ति न रह जायँगे, और न पिता या अपराधों को क्षमा करानेवाले बुजुर्ग ही, वरन् उन सबसे अधिक महान्—और फिर भी अधिक निकट—आपके जीवन में एक दिव्यतत्त्व के रूप में प्रकट होंगे जो जीवन को उत्साहित करता रहेगा, स्फूर्ति देता रहेगा और उसे ऊपर उठाता रहेगा। और जब एक बार आप उनके हो जायँगे, तो उन्हीं के होकर रहेंगे।

गाँधीजी का प्रवेश मेरे जीवन में, सन् १९३०ई० में हुआ था। सन् १९१९ ई० में मैंने कांग्रेस से त्याग-पत्र दिया—जिन्ना साहब के साथ ही, जो उस समय बम्बई होमरूल लीग के सभापति थे। हम लोगों ने गाँधीजी को एक क्रान्तिकारी अव्यावहारिक और अज्ञेय व्यक्ति के रूप में पाया। बारदोली-आन्दोलन के समय मैं उनसे दूर रहा, परन्तु सन् १९३० ई० में उनको सहयोग देने के लिए किसी बात ने मुझे विवश किया। मैंने सत्याग्रह किया और मुझे छः महीने के लिये जेल भी काटनी पड़ी।

अक्टूबर में मैं जेल से बाहर आया। बम्बई में सत्या-

ग्रह का मैं एक कार्यशील नेता था। उस समय एक झूठी अफवाह उड़ायी गयी कि मैं गवर्नमेन्ट का जासूस हूँ। किसी ने यह तो जानने की परवाह नहीं की कि किस विशेष प्रलोभन से मुझे जासूस बनने की या काँग्रेस में शरीक होने की प्रेरणा हुई। उस समय मुझे कुछ मिलना तो था नहीं, उलटे हर चीज गँवाना ही था।

राजनैतिक कार्य प्रायः धूर्त्ततापूर्ण होते हैं। कानाफूसी-वाली कार्यप्रणाली एक ताकतवर हथियार है। उच्च स्थिति-वाले आदमियों ने बापू से मेरी शिकायत की। इस पर मैं बहुत ही उद्विग्न हुआ। काँग्रेस में मैं किसी विशेष उद्देश्य से शरीक नहीं हुआ था। अतः मैंने गाँधीजी से निजी तौर पर भेंट करने की अनुमति माँगी। एक दिन चार बजे सबेरे मैं उनके साथ प्रातःकाल के भ्रमण में साथ-साथ चला। जो कुछ मेरे हृदय में था मैंने उनसे कहा। यह भी कहा कि मैंने काँग्रेस छोड़ देने का निश्चय किया है, जहाँ कि ईर्ष्या से किये गये तुच्छ प्रहार तलवार के आघातों से अधिक जहरीले हैं। जब मैं उनसे यह कह रहा था, मेरे हृदय का सन्ताप आँसुओं के रूप में प्रकट हो उठा। उन्होंने बड़े धैर्य से मेरी बातों को सुना और मुझसे परेशान न होने को कहा। उन्होंने समझाया कि ये राजनीति की चालें हैं। और यह भी कहा कि इस तरह की निर्बलता के विरुद्ध तुम अपने को तैयार रक्खो और तब यह देखना मेरा काम है कि तुम्हें कोई हानि न होने पावे। अपने वचन के अनुसार ही उन्होंने मुझे अपना अन्तरंग बनाया और अपनी मृत्यु के दिन तक,

वे न केवल मेरे नेता, बल्कि मेरे पिता के समान और गुरु भी बने रहे।

उस समय से वे मेरे और मेरी पत्नी के जीवन में प्रविष्ट हुए। हम लोगों के जीवन की प्रत्येक छोटी-छोटी बातों में वे दिलचस्पी लेने लगे। यह उनकी सबसे बड़ी देन थी। इस बात से उनका प्रत्येक जन यह अनुभव करता था कि उनके हृदय में उसके लिए भी एक निर्धारित स्थान है।

मेरी आजमाइशें सन् १९४१ ई० के पाकिस्तानी दंगों से शुरू हुईं। उस समय गाँधीजी ने एक भेंट में यह आदेश दे दिया कि कोई भी काँग्रेस का सदस्य हिन्दू-मुस्लिम दंगों में भी किसी मुसलमान का बलपूर्वक अवरोध न करे। इस आदेश से मेरी आत्मा में एक विप्लव उत्पन्न हुआ। जब मैंने उनसे अपने विरोध का निवेदन किया तब उन्होंने मुझे बुलाया। दिन भर विचार करने के बाद उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं काँग्रेस छोड़ दूँ और अपनी भावनाओं को देशवासियों के प्रति प्रकट करूँ। परन्तु मैं उनसे जुदा कैसे होता? तब उन्होंने कहा कि इस काम से तुम मुझसे जुदा नहीं होंगे, वरन् मेरे अधिक प्रिय बनोगे।

काँग्रेस छोड़ने पर उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। अखण्ड-हिन्दुस्तान सम्बन्धी दौरे पर मैं निकल पड़ा, और इसके बाद से उन्होंने मेरे हर एक कार्य में दिलचस्पी ली। अत्यन्त सावधानी से, वे काँग्रेस छोड़ने के बाद की मेरी जीवन की घटनाओं पर गौर करते रहे। एक समय जब कि बम्बई प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी की प्रार्थना पर, जब सरदारजी

मुझे असेम्बली के चुनाव के लिये खड़ा करना चाहते थे, तब उन्होंने (गाँधीजी ने) इस विचार को ही बहुत जोर देकर रद्द कर दिया। उन्होंने कहा कि यह कार्य मुन्शी के हित के लिये नहीं है, और यह भी कहा कि मैं उनके काँग्रेस में फिर से आने का समय निर्धारित करूँगा। मैंने यह सब उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया और यथावसर उन्होंने मुझसे काँग्रेस में वापस आने को कहा, जिसका मैंने पालन किया। इस प्रकार वे एक ऐसा विश्वास उत्पन्न कर देते थे जो लोगों को उनके संरक्षण में अपने को छोड़ देने के लिये प्रेरित करता था—जो कि एक भक्त की वृत्ति है।

इसी तरह की एक घटना उस समय हुई जब मैं हैदराबाद भेजा जा चुका था। मृत्यु के एक दिन पहले उन्होंने हैदराबाद के विषय में मुझ से एक घंटे तक बात की थी। कोई व्यक्ति उनसे मेरे विषय में कुछ द्वेषपूर्ण बातें कहता रहा था। उन्होंने वे बातें मुझसे स्पष्ट कहीं और उसी प्रकार सुनकर, मैं जो कुछ कर रहा था और जो मेरा कार्य-क्रम था, मैंने उनसे बताया। वार्तालाप के अन्त में मैंने उनसे पूछा कि मैं इस प्रकार की मिथ्या बातें कहनेवाले आदमियों से कैसा बर्ताव करूँ। इसका उत्तर भी विचित्र था। उन्होंने जवाब दिया "मैंने हैदराबाद तुम्हारे सुपुर्द किया है न कि उसके।" उन्होंने यह मेरे ऊपर छोड़ दिया कि मैं यथोचित रूप से उससे निपट लूँ। उनके सम्बन्ध में यह एक बहुत बड़ी बात थी।

यदि वे आपके हृदय में एक बार प्रवेश पा जायँ, एक

बार आप पर विश्वास करने लगें, तो उनके इस भाव में तब तक परिवर्त्तन नहीं हो सकता था जब तक कि आप बेईमान सिद्ध न हो जायँ। उनके ऊपर किसी प्रकार के द्वेष का या कानाफूसी का ज़रा भी प्रभाव न पड़ता था। इससे काम करनेवाले आदमी में एक आत्मबल पैदा होता था और उसे साहस के काम करने की हिम्मत होती थी। यही कारण था कि हरएक को उनकी इच्छाओं की पूर्ति करने में खुशी हासिल होती थी।

यदि वे किसी व्यक्ति को अपना लेते, तो सदा के लिए और हर तरह से। वे मुझे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में ले गये। उनके साथ अनेक वर्षों तक मैंने हिन्दी की उन्नति के लिए काम किया। इसके बाद वे हिन्दुस्तानी के पक्ष में आये। परन्तु संस्कृत से विरहित भाषा के अरण्य में मैं उनका अनुसरण न कर सका। संस्कृत-भाषा से सम्बद्ध संस्कृति, जिसके प्रचार का साधन आधुनिक हिन्दी हो रही है, मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय थी। उन्होंने मुझसे हिन्दुस्तानी का पक्ष लेने को आग्रह-पूर्वक कहा। मैंने उनसे साफ़ तौर पर कह दिया कि यह मुझसे न होगा। इस बात पर मेरा उनका साथ तो छूटा, परन्तु इस दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण उन्होंने आपस के व्यवहार में कोई विच्छेद न होने दिया। मनुष्यों के ऊपर उनके प्रभाव का यही रहस्य था।

हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार ईश्वर भक्त-वत्सल है—अर्थात् भक्तों के कल्याण के लिए उत्सुक, वह भक्ताधीन

भी है—अर्थात् भक्तों का भक्त। गाँधीजी में यही गुण मनुष्येतर मात्रा में वर्त्तमान थे।

(पी० टी० आई फीचर्स, अक्टूबर १, सन् १९४९ ई० से उद्धृत)

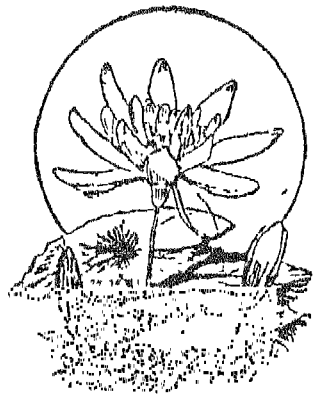

(२)

महात्मा जी का अनुसरण

गान्धी जी ने हमें जो कुछ सिखाया है वह है "सत्य का धर्म" यह धर्म अपनी आत्मा में ही स्वर्ग के राज्य को अर्पित करता है, अन्यत्र कहीं नहीं। अपनी आत्मा के प्रति सच्चे होने के अतिरिक्त यह किसी अन्य रूप में मुक्ति की खोज नहीं करता। ईश्वर 'सत्यरूप' है यह स्मरण पूर्व ऋषियों ने किया था। नये संसार का यह ऋषि घोषणा करता है कि "सत्य ही ईश्वर" है।

मैंने एक पुस्तक लिखा था, जिसका नाम है "मैं महात्मा जी का अनुसरण करता हूं" (I Follow the Mahatma) इसमें मैंने स्वीकार किया है कि महात्मा जी एक 'गुरु' हैं; पर जिन्होंने न तो मेरी किताब पढ़ा है और न गांधी जी को ही समझा है उन्होंने मेरी भर्त्सना की है कि मैं गान्धी जी का अनुसरण नहीं करता। गान्धी जी के प्रशंसा के गीत गाना सरल है, उनकी चलाई हुई शक्ति-शालिनी संस्थाओं का समर्थन करना और भी सरल है। परन्तु बात यह है कि

जिस किसी चीज का वे निर्माण करते हैं, उसके वे समर्थक नहीं होते। जो कुछ कि वे करते हैं वह उससे भिन्न है जो कुछ कि वे यथार्थ में हैं। वे क्या हैं यह ठीक ठीक समझना कठिन है। उससे कहीं अधिक कठिन है उस मार्ग पर पैर रखना जिस पर वे चल चुके हैं।

गान्धीजी वे गुरू हैं जो सत्य की शिक्षा देते हैं; वह सत्य जो मन—वचन—कर्म के सामञ्जस्य की समष्टि है और जो हर हालत में अपने व्यक्तित्व की अक्षुण्णता है। निजी तौर पर अनुभव किये सत्य का अनुसरण करना एवं उसी के लिए निर्भयतापूर्वक सन्नद्ध होना ही महात्माजी का अनुसरण है: निजी सत्य से तादात्म्य स्थापित करना—कितने ही स्वल्प परिमाण में सही—यही उनके शिष्य के लिए निर्धारित मार्ग है।

गान्धीजी का अनुसरण करने का अर्थ निजी मूल्यांकन की भावना का गला घोंटना नहीं है। उनके बताये मार्ग पर चलना,—आँखों में पट्टी बाँधकर—बिना विवेचना किये चलना, केवल अक्षरशः पालन को ही ठीक मानकर चलना भी उनका अनुसरण नहीं है। यह सत्य मार्ग की शिष्यता नहीं है, प्रत्युत असत्य मार्ग की है।

यदि हम उनके योग्य बनना चाहते हैं तो हमें उनकी शिष्यता के इस दुरारोह मार्ग पर चलना अपेक्षित है। सबसे पहले हमें सत्य के प्रत्यक्षीकरण की चेष्टा करनी है और तब उसी के अनुरूप आचरण करना है।

मन, वचन और कर्म के ऐक्य से सत्य पृथक् नहीं किया

जा सकता। सत्य का यह रूप समझना कठिन है तथा उसकी अपेक्षा कठिनतर है उसका अनुसरण। प्रायेण हम लोग सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं। प्रतिक्षण हम लोग अपनी ख्याति, उच्चस्थिति, धन और अहंकार के कारण कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं, और भय, अपमान और पीड़ा के डर से पीछे हटते हैं; हम क्रोध, ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण कार्यधारा में प्रवाहित हो जाते हैं और ज्यों ही मन, वचन और कर्म भिन्न-भिन्न रास्तों पर चलने लगते हैं, त्यों ही सत्य का ढाँचा चूर-चूर हो जाता है। यही असत्य का रूप है। परन्तु जिन स्वल्प क्षणों में ये तीनों एक हो जाते हैं, उन्हीं क्षणों में हम ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं, जो सत्यरूप है। इन तीनों के ऐक्य को प्राप्त करने का सचेष्ट प्रयत्न ही महात्माजी का अनुसरण करना है एवं सत्याग्रही होना है।

प्राण-पण से निज सत्य का ही आश्रय ग्रहण करना सत्याग्रह है। देश की स्वतंत्रता के निमित्त अपने को गिरफ्तार कराना, निस्संदेह, सत्याग्रह है, परन्तु उसी समय जब आप निजी तौर पर प्रत्यक्षीकृत सत्य के संरक्षणार्थ तथा किसी अधिकार प्राप्ति के लालच एवं किसी नियंत्रण के दबाव के बिना ही, कष्ट सहने को तत्पर होते हैं। इस प्रकार सत्याग्रह उत्कृष्ट अनुशासन का रूप धारण करता है जो जीवन की छोटी से छोटी कार्य-भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है।

अक्सर मैंने अपनी स्पष्टवादिता से अपने मित्रों की संवेदन-शीलता पर आघात पहुँचाया है और अब तक पहुँचा

रहा हूँ। परन्तु यदि मैं स्वप्रत्यक्षीकृत सत्य के अनुकूल अपने विचार न प्रकट करूँ और उसका अनुसरण न करूँ तो मैं शिष्यता के निर्दिष्ट मार्ग से भटकने वाला हो जाऊँगा जिस मार्ग का अनुगमन मैंने स्वतः ही चुना है। स्वेच्छाकृत एवं निःशेष भाव से अपने को ईश्वर के अर्पण करना—यह एक कठोर अनुशासन है। इसका एक कण भी पाने के लिए हमारे लिए एक दीर्घकालीन तथा सावधानी से और प्रसन्नता-पूर्वक अपनाये गये शिक्षण मार्ग से गुजरना अपेक्षित है।

इस प्रकार के आत्मानुशासन का अंगीकरण ही महात्मा जी का अनुसरण है।

(सोशल वेलफेयर अगस्त २० सन् १९४३ ई० से उद्धृत)

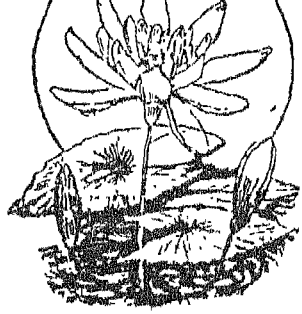

(३)

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द की मृत्यु हो चुकी है। यह कुछ अविश्वसनीय सी बात है। पाँच महीने हुए मैंने उन्हें बहुत स्वस्थ देखा था और उनके मुख से निकले हुए ज्ञान-पूर्ण शब्दों को सुना था। कुछ ही दिन हुए उन्होंने अपनी शिष्य-मण्डली को दर्शन भी दिया था। अगस्त सन् १९५१ ई० में हम लोग उनका ८० वाँ जन्मोत्सव मनाने की प्रतीक्षा में थे। एकाएक वे यहाँ से बुला लिये गये। मातृ-भूमि ने अपनी श्रेष्ठ सन्तानों में से एक को खो दिया।

श्रीअरविन्द का जीवन, उनके लिखे ग्रन्थ तथा उनकी विचारधारा साधारण लोगों के मूल्यांकन को चुनौती देते हैं। सन् १८९३ ई० में वे इंगलैण्ड से, चौदह वर्ष अध्ययन करने के बाद, वापस आये। वहाँ उनका छात्र-जीवन बहुत ही समुज्ज्वल रहा था और वहीं उन्होंने आई० सी० एस० परीक्षा में असफलता को स्वयं ही वरण किया था। सन् १९०३ ई० में जब मैं बड़ौदा कालेज में दाखिल हुआ, तब वे वहाँ

मेरे अध्यापक थे। थोड़े समय के लिये वे बड़ौदा के सयाजी-राव गायकवाड़ के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे थे। सन् १९०५ ई० के बंग-विभाजन-आन्दोलन के समय वे एक क्रान्ति-पूर्ण भारतीय राष्ट्रीयता के सबसे शक्तिमान् देवदूत के रूप में प्रकट हुए। अपने 'वन्दे मातरम्' समाचारपत्र के द्वारा उन्होंने हमारे राजनैतिक आन्दोलन को नई तरफ़ मोड़ा और उसे एक नया ही जामा पहना दिया। देश के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व उस समय अर्पण किया जब आज़ादी की आशा एक धुँधले और दूर से दिखनेवाले प्रकाश के समान थी। उन्होंने अपने लक्ष्य, कार्य-प्रणाली और राष्ट्र को बन्धन-मुक्त करने के साधनों को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। मुझे याद है कि अपने प्रारंभिक लेखों में से एक लेख में उन्होंने आज़ादी के लिए अहिंसात्मक आन्दोलन की जरूरत पर ज़ोर दिया था। साथ ही एक ऐसे पुरुष के अवतीर्ण होने की भविष्य-वाणी की थी जो इन्हीं साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा।

संसार में अंग्रेजी भाषा पर अधिकार रखनेवाले विज्ञ पुरुषों में श्रीअरविन्द भी एकतम थे। 'वन्दे मातरम्' के गर्जना-पूर्ण सम्पादकीय लेखों ने सबका ध्यान उसी मात्रा में अपनी ओजस्विता के कारण आकृष्ट किया था जितना कि भाषा की उत्कृष्टता के कारण। उनके काव्य-ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा के लिये भारत की देन हैं। इन ग्रन्थों में समुचित वाक्य-विन्यास तथा प्रचुर कल्पना का चमत्कार है।

सन् १९०४ ई० में उन्होंने योग का आश्रय लिया तथा अंग्रेजी ढंग के रहन-सहन का परित्याग किया। सन्

१९०७ ई० में लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय के साथ ही उन्होंने फ़िरोज़शाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विरुद्ध, सूरत में अत्यन्त उग्र देश-प्रेमियों के एक 'तरुण-संघ' का नेतृत्व किया था। परन्तु शीघ्र ही वे केवल राजनीति में भाग लेनेवाले नेता नहीं रह गये क्योंकि उस समय वे उच्चतर आत्मिक विकास के मार्ग में चल रहे थे। सन् १९०९ ई० में जब वे लगभग एक वर्ष के लिये विचाराधीन बन्दी रहे थे, उन्होंने अपना समय मौन-साधन तथा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने में बिताया। उन्होंने अपने अनुभव का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है—

"इस एकान्तवास में मेरा सबसे पहला ज्ञान-साक्षात्-कार—जो मेरे आध्यात्मिक जीवन का सबसे पहला सबक था—मुझे प्राप्त हुआ। मुझे उस समय याद आया कि मेरे कैद होने के एक महीना या उससे कुछ अधिक पूर्व, मुझे एक अन्तःप्रेरणा हुई थी कि मैं अपने सब कार्य स्थगित कर दूँ और आत्मनिरीक्षण करूँ जिससे मैं ईश्वर का अधिक सान्निध्य प्राप्त करूँ।"

सन् १९१० ई० में वे पांडिचरी में एकान्तवास में चले गये। उनके लिये यह जीवन के महत्त्वपूर्ण समय का आरंभ था—यह एक अवसर था उन सारे तथ्यों के रचनात्मक विश्लेषण का जिनका प्रतिनिधि भारत है। उस समय के उनके ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति के पूर्ण सामञ्जस्य की सबसे विस्तृत समीक्षा है। उनमें उनके भगवद्गीता पर निबन्ध तथा अन्य ग्रन्थ—योग का सामञ्जस्य (Synthesis of Yoga), वेदों

का रहस्य (The secret of the Vedas), दिव्य-जीवन (The Life Divine), सामाजिक उन्नति का मनोविज्ञान (The Psychology of Social Development), मानव-ऐक्य का आदर्श (The Ideal of Human Unity), कविता का भविष्य (The Future of Poetry), भारतीय संस्कृति का समर्थन (The Defence of Indian Future) है। उन्होंने दयानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस के कार्य को अपना आधार बनाया। भारतीय संस्कृति का पुनः एकीकरण किया और सनातनधर्म को एक नया विश्व-व्यापी महत्त्व दिया। इस प्रकार वे आधुनिक भारत के देव-दूत थे। रोमाँ रोलाँ ने उनके विषय में ठीक ही कहा था कि वे सर्वाङ्गीण सामञ्जस्य के प्रतीक ही हैं जिसे एशिया और युरोप के कुशाग्रबुद्धि पुरुषों ने अब तक जान पाया है।

व्यावहारिक मसलों में भी उनका मस्तिष्क स्फटिक की तरह स्पष्ट था। दूसरे 'विश्व-युद्ध' में उन्होंने खुलासा मित्र राष्ट्रों के पक्ष में अपने विचार घोषित किये थे, यद्यपि सारा देश इस विचार से सहमत न था। उनके विचार ठीक ही साबित हुए। हाल में ही उन्होंने दक्षिण कोरिया पर किये गये आक्रमण को, एशिया को अधीन करने का पहला क़दम बताया था। कुछ समय हुए उनसे मेरी जो बातचीत हुई, उसमें उन्होंने वर्त्तमान समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बातें कहीं, जिनसे उनकी लोकोत्तर दूरदर्शिता प्रकट होती है। वे केवल आदर्शवादी नहीं थे, वरन् आदर्शवाद को यथार्थताओं से सम्बद्ध करनेवाले एक ऋषि थे। वे योगी

थे और उन्हें सत्य का साक्षात्कार स्पष्ट और विशुद्ध रूप में हुआ था।

वर्तमान काल के सबसे बड़े दार्शनिकों में उनकी गणना की गई है और उनकी "उच्च-मनस्" की खोज मानव-विचार-धारा एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये एक अनोखी देन है। जैसा कि मैंने अभी कहा है, सन् १९०४ ई० में उन्होंने योग-साधन शुरू किया। तब से लेकर उन्होंने योग की अनुभूतियों को एक के बाद एक प्राप्त किया। क्रमशः २४ नवंबर सन् १९२६ ई० को वे उसकी चरम सीमा पर पहुँच गये। भौतिकवाद में पागल संसार के लिए उन्होंने दिव्य-चेतना के अवतरण के सिद्धान्त को मनुष्यों के विचार और कार्य-कलाप में एक सक्रिय स्थान दिया—

अपने एकाकी जीवन तथा पांडिचरी के आश्रम में अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का जो वर्णन उन्होंने खुद किया है उससे अधिक स्पष्ट उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है। वे कहते हैं।

क्रीड़ा करता, निजस्थली में, एकाकी जीवन के साथ,
सारी दुर्घटनाओं को तो मित्र बनाया है मैंने।
कौन यहाँ रहता सुख से है? कौन रह सकेगा स्वतंत्र?
चढ़ने को ऊँचे शिखरों पर, जहाँ पवन का वेग प्रचंड॥
स्वामी हूँ मैं वात-वेग अरु शिखरि-वृन्द का,
आत्मा हूँ मैं स्वतन्त्रता अरु अहंभाव की।
होगा वह अवश्य दृढ़तर, अरु भय का साथी
जो साझी है मेरे राज्य में, औ, सहचारी॥

जब कि मैं श्रीअरविन्द के बारे में यह सब कह रहा हूँ, मैं अपने दूसरे गुरु गान्धीजी को नहीं भूल सकता जिनके चरणों के निकट मैं बहुत समय तक बैठा। यह दोनों ही गुरु भारतीय संस्कृतिरूपी पादप के उत्कृष्ट फल थे और उनमें से हरएक अपने ढंग से भारतीय संस्कृति के पुनः एकीकरण का प्रवर्त्तक था।

श्रीअरविन्द, जीवन के एक महान् कलाकार थे। वे मूल-भूत परिधियों के बहुत ऊपर उठ चुके थे। वे दिव्य-सन्देश के संवाहक, ज्ञानी एवं दूरदर्शी थे। गान्धीजी ने मूलभूत निर्बलताओं से काम लिया और एक ईश्वर-प्रेरित पुरुष के रूप में वह काम किया जो रचनात्मक था और जो मनुष्य को ऊपर उठानेवाला था।

श्रीअरविन्द, श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के अनुयायी थे। वे योगी थे—इस उत्कृष्ट कला के मूर्तिमान् अवतार। गान्धीजी, जो दयानन्द के कुछ अधिक निकट थे, एक कर्मयोगी थे—उत्कृष्ट कर्म में सिद्धहस्त—त्रिकाल में होनेवाले श्रेष्ठ योगियों में से एकतम। दोनों ही नैतिक नियम के सबसे बड़े व्याख्याता थे। दोनों ही आत्म-सुधार-कला में चतुर और पाश्चात्य सभ्यता के अन्धकार को चुनौती देने-वाली प्रगतिशील शक्तियों के प्रतीक थे।

गत जुलाई में जब मैं उनसे मिला, मैंने उन्हें अपने पुराने अध्यापक के रूप में नहीं, वरन् एक भिन्न ही रूप में देखा। वह रूप था मानवव्यक्तित्व का आत्यन्तिक एकी-करण। उनका राग, क्रोध और भय एक शक्ति के रूप में

परिणत हो गया था जो सुन्दर और शान्त थी—भारतीय संस्कृति की केन्द्रीभूत विचारधारा मानवरूपरूप में व्यक्त हो गई थी। मानों अपनी ही वाणी में उन्होंने इसे कहा है—

सीमारहित दृष्टिपथ व्यापक, मेरी आत्मा का विस्तार
निज भौतिक शरीर है साधन ईश्वर का—सुन्दर, सजीव—
बृहत्सूर्य है आत्मा मेरी अविनश्वर प्रकाश से युक्त।

इतने बड़े गुरु की अचानक मृत्यु स्वभावतः एक बड़ी रिक्तता उत्पन्न करती है। पर पृथ्वी पर उनका कार्य समाप्त हो चुका था। वे जब तक जीवित रहे उनका जीवन दिव्य चेतना के आलोक में पुराने ऋषियों के समान बीता। और इस नश्वर शरीर का परित्याग उनके आध्यात्मिक प्रभाव में कोई विच्छेद नहीं पैदा कर सकता—वह प्रभाव जो अद्भुत शान्ति के साथ उनसे निःसृत होता था और जो आत्मिक रूप से निस्सृत होता रहेगा।

और जब तक ऐसे ऋषियों की आत्मा, जिनका अधिष्ठान ईश्वर है, पृथ्वी पर विचरण करती है, हमें मानव के अदृष्ट पर इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि वह ईश्वर के गौरव को पा सकता है।

(रेडियो पर दिया हुआ भाषण, दिसम्बर सन् १९५० ई०)

(४)

पण्डित नेहरू के अनेक पहलू

कभी कभी मनुष्य अपने कार्यों की अपेक्षा बड़ा होता है। कार्यों का यथार्थ सम्पादन उसके व्यक्तित्व का केवल धुँधला विकास है, जो कभी-कभी बाहरी प्रभाव से विकृत भी हो जाता है। वास्तव में मूल्य तो मनुष्य ही का है। पण्डितजी यथार्थ में जो कुछ हैं उसकी अपेक्षा उनके कार्य उनके व्यक्तित्व के प्रकट करने के लिए अपूर्ण पहलू हैं—उनके कार्य, भारतीय स्वातन्त्र्य के योद्धा के रूप में, आजादी की लड़ाई में एक उग्र योद्धा के रूप में, आकर्षण और शक्ति से संयुक्त एक बड़े नेता के रूप में और एक प्रधान मंत्री के रूप में जिसके द्वारा अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत को एक संमानित स्थान मिला है।

दिन पर दिन और कभी-कभी घन्टों-घन्टों में जिस व्यक्ति के रूप में मैं उन्हें देखता हूँ, वह उनके कार्यों से भिन्न और, एक अर्थ में, अधिक महत्त्व शाली है। बहुत वर्ष हुए, 'होमरूललीग' के जमाने में उन्हें पहले-पहल देखने पर

मेरे ऊपर यह छाप लगी कि वे एक ठाट-बाट वाले पुरुष हैं। यद्यपि जो लोग उनको भली भाँति जानते थे, उनके लिये वे उस समय भी आदर्शवाद की सकंप-ज्वाला थे। उस समय का वही ठाट-बाट वाला पुरुष इस समय संसार के सबसे अधिक दायित्वपूर्ण पदों में से एक पद का भार धारण किये हुए है और एक गंभीर पुरुष और एकाकी होने की लोगों पर छाप डालता है जिसकी चिन्तातुर दृष्टि किसी दूरस्थ अप्राप्य पदार्थ पर लगी हुई है।

उनमें, और नेहरू वंश के कुटुम्बियों में, परस्पर बड़ा ही प्रबल स्नेह है। काम-काज के बाद बचे हुए उनके स्वल्प समय में भाग लेनेवाली स्त्री-पुरुषों की उनकी छोटी ही मित्र मंडली है। वे लोग इनके प्रति प्रचुर स्नेह की धारा प्रवाहित करते हैं जो अपने निजी नेता के लिए स्वाभाविक है जो कि इस समय प्रधान मंत्री के पद पर भी प्रतिष्ठित है। उन लोगों के प्रति अपनी निष्ठा में वे भी दृढ़ हैं। परन्तु इसमें सन्देह है कि अपने सारे सुख दुःखों में, उनमें से किसी को वे अपना साक्षी बनाते हैं। एक बार मैंने उन्हें घनिष्ठ मित्रों को विदा देते देखा। स्नेह के आवेग से निस्सृत शब्दों और सस्नेह आलिंगनों के मध्य में वे मूर्त्तिवत् स्थिर रहे और उनका केवल उत्तर आयास सूचक मुस्कराहट ही थी।

पण्डितजी अपने ही संसार में रहते हैं। यह एक आदर्शों का संसार है जिसमें उनके आवेग संचालित होते हैं, पर भाव रूप से ही। वे उस साधु से भिन्न हैं जिसका सिद्धान्त "वसुधैव कुटुम्बकम्" है। उनकी स्वच्छ भावनाएँ, उन्हें महान्,

और उत्कृष्ट निमित्तों के लिए अपना जीवन अर्पित करने को इस तरह प्रेरित करती हैं, जो उनकी मनोवृत्तियों से अनभिज्ञ पुरुष को प्रायः यथार्थताओं से परे लगाता है । जब कभी उनके आदर्श उन्हें किसी उदार भाव की ओर प्रेरित करते हैं, तो उनकी चतुराई और सूक्ष्म दृष्टि केवल लज्जाशीला दासियों के समान हो जाती है जो मूक भाव से आज्ञा की अवज्ञा करती हैं ।

पण्डितजी को वस्तुतः ईश्वर-भक्त नहीं कहा जा सकता । मुझे नहीं मालूम कि वे कभी प्रार्थना भी करते हैं । बिरला-मन्दिर में, कुछ समय हुआ जो व्याख्यान उन्होंने गीता पर दिया था, वह सिद्धान्तवादी मालूम होता था । पश्चिमी ढंग की उनकी शिक्षा-दीक्षा उन्हें ईश्वर में स्पष्ट रूप से विश्वास प्रकट करने में या अपने जीवन को ईश्वर का निमित्त बनाने में, कठिनाई उपस्थित करती है । श्रीकृष्ण का यह उपदेश कि सारे धर्मों को छोड़कर मेरी शरण आओ, अथवा मेरे निमित्त-मात्र बनो उन्हें शायद आकृष्ट ही न करे । परन्तु मोलायर (Moliare) के नाटक के नायक के समान, जो बिना जाने हुए 'गद्य' में संभाषण करता था, वे भी ईश्वर-परायण हैं, यद्यपि वे इस मर्म को जानते नहीं । यदि किसी दिन वे ईश्वर से प्रेरित, राष्ट्रों के शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित होने लगें, तो मुझे कोई आश्चर्य न होगा ।

उनका जीवन उनकी वंशपरम्परा के अनुरूप ही है । एक सच्चे ब्राह्मण के समान, उनकी आत्मा बहुत उच्च और अनुशासित है, और वे जीवन को एक 'उत्सर्ग' समझते हैं ।

उनका एक-एक क्षण अपने समस्त उपस्थित यथार्थताओं को उच्च आदर्शों के साँचे में ढालने के कठिन कार्य के हेतु समर्पित है। विघ्न-बाधाओं से जब उनकी मुठभेड़ होती है, तब वे ज्वालामुखी के समान आवेग प्रदर्शित करते हैं। तीव्र क्रोधावेशों में उनका विस्फोट प्रकट होता है और वे व्यक्तियों की भर्त्सना करते हैं। पर इन तीव्र-उद्गारों में भी कोई द्वेष-भाव नहीं रहता। वे केवल उनकी तीव्र अधीरता को ही बाहर निकालने में सहायक होते हैं।

उनका आत्मोत्सर्ग यद्यपि ईश्वर के प्रति नहीं है, तो भी वह किसी हद तक एक स्व-कल्पित आदर्श के लिए है जिसका साक्षात्कार जितनी जल्दी वे चाहते हैं, उतनी जल्दी होने में उन्हें कठिनाई प्रतीत होती है। यह आत्म-समर्पण अक्सर उन्हें कुछ औचित्यों के सम्बन्ध में दुराग्रही बना देता है, उस स्थिति में भी, जब कि राजनैतिक अधिकार सम्बन्धी समस्याएँ सामने आती हैं। काश्मीर के मामिले में यू० यन्० ओ० की मध्यस्थता के लिए उनकी प्रार्थना, हैदराबाद के मामिले में उनका सविलम्ब निर्णय—ये दोनों बातें भी, 'आवश्यक क्या है' और उनकी समझ में 'उचित क्या है' इसके बीच एक आध्यात्मिक संघर्ष का परिणाम थीं। अन्ताराष्ट्रीय औचित्य की उनकी भावना इसी स्रोत से प्रवाहित होती है। यही कारण है कि कभी-कभी उनके सहकारी, पेंचीदे मौकों पर किये जानेवाले उनके निर्णयों के संबंध में, सशंकित रहते हैं।

ऐसे आदर्शवादी और उच्च स्थानवाले व्यक्ति को, अपने

सहकारियों की दलीलों का जवाब देते हुए या विरोध के यथार्थ रूप से दृढ़ आधारयुक्त होने पर, उसी मत को स्वीकार करते देखना, बड़ा ही आनन्ददायी है। पूर्व-निर्णय किए रहने पर भी, वे किसी दल की, संसद की, या देश की भावना सदा जान जाते हैं और विजय प्राप्त करने के लिए नम्र भी हो जाते हैं। उनकी आयु और अनुभवों ने उन्हें एक कोमल व्यक्ति बना दिया है। भारत पर जो महा संकट पड़े, उनके कारण उनके अन्दर होनेवाला संघर्ष कम पड़ गया है। यही कारण है कि हाल में सरदार और उनके बीच में न केवल मस्तिष्क की वरन् हृदय की भी भूमिका पर पूरा समझौता हो गया है।

अक्टूबर सन् १९४६ ई० के बाद से उनकी स्थिति विशालतर हो गई है। यथार्थता सम्बन्धी उनकी भावनाएँ अधिक गंभीर हो गई हैं। संभव है कि अब से दो वर्ष बाद राजनीति के क्षेत्र में वे एक अद्भुत राजनीतिज्ञ हो जायँ जिसके पैर पृथ्वी पर हों, जिसका मस्तिष्क नैतिक मूल्यों के प्रखर प्रकाश से उद्भासित हो और जिसका हृदय मनुष्यों को पीड़ा से मुक्त करने के लिये अर्पित हो— बशर्ते कि इस बीच संसार उन्हें शून्यता में न ढकेल दे।

पण्डितजी की सबसे बड़ी आकर्षक विशेषता उनकी सौन्दर्य-भावना है। उनका मनोहर मन्द हास्य, वटनहोल में लगा हुआ फूल, सुसंस्कृत लोगों से घिरे रहने का क्रम—ये सभी बातें उनकी सौन्दर्य की लिप्सा सूचित करती हैं—उस 'परम सुन्दरम्' की जो लेटो की कल्पना थी। गान्धीजी

ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्रगतिवादी सिद्धान्त के द्वारा कठोर सादगी, तथा सुन्दरता के ऊपर उपयोगिता के प्राधान्य का युगारंभ किया। पण्डितजी संभवतः उन इनेगिने लोगों में से हैं जिनका उनके साथ घनिष्ठ सम्पर्क तो रहा परन्तु इस दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्पूर्ण आशय से जो प्रभावित नहीं हुए। यद्यपि अपने गुरु के अनुशासन में उन्होंने उच्च कार्यों के लिए आत्म-समर्पण किया है परन्तु सौन्दर्य-भावना ने पण्डितजी का साथ कभी नहीं छोड़ा है। इस भावना को वे सुरुचिपूर्ण वातावरण में, शोभा और अनुरूपता के प्रति अनुराग में, रूप-रंग में, व्यक्त करते हैं। सच्ची कला और साहित्य के प्रति उनका अनुराग अक्षुण्ण बना है। अपने युवा काल से ही गंभीर लड़ाई लड़ते हुए भी वे कला और साहित्य में भी अनुरक्त रहे हैं, और इन्हीं विषयों पर यदाकदा कहे गये उनके वाक्य, उनकी कलात्मिकता की पूर्णता के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं।

पण्डितजी की सौन्दर्य-भावना उनके आदर्शों से मेल खाती है। संभवतः वे दोनों एक ही भावना के दो प्रतिरूप हैं। एक कलाकार स्वतंत्रता-संग्राम में ही नहीं, अपितु राजनीति के भँवर में डाल दिया गया है। सबसे बढ़कर यही एक ऐसी बात है जो उन्हें आधुनिक काल की धुँधली भूमिका पर पृथक् प्रकाशित करती है। तब भी उनकी सौन्दर्य-भावना विशुद्ध कलात्मक प्रकार की नहीं है। उनके लिये सौन्दर्य न्याय है और न्याय ही सौन्दर्य है, वह न्याय जो अन्तराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक और वैयक्तिक है।

अभी हाल की बात है कि उन्होंने एक खाद्य संबंधी भाषण में कहा, "मुझे पुष्पों से प्रेम है, परन्तु आज एक केले का गुच्छा मेरे नेत्रों को किसी भी फूल से अधिक प्रिय है।"

उनका जीवन भारत के भाग्य से जुड़ा हुआ है। उनकी और अजेय सरदार की अद्भुत सहयोगिता भारत के लिए एक महती निधि है—ऐसी निधि जो इतिहास में किसी राष्ट्र के पास नहीं है। इस अनूठी सहयोगिता की सफलता या असफलता पर भारत को एक शक्तिशाली शासन से सम्पन्न करने में, देश-वासियों को प्रचुर मात्रा में कार्य-परायण बनाने में, एशिया को दृढ़ बनाने एवं संसार में शान्ति स्थापित करने में—भविष्य में बहुत कुछ निर्भर है।

(पी० टी० आई० फीचर्स से उद्धृत, नवम्बर १४, सन् १९४९ ई०)

(५)

अद्मनीय सरदार

सरदार के विषय में लिखना मेरे लिए कठिन है। जिन नेताओं से मेरा निकट सम्पर्क रहा है उनमें वे मेरे सबसे निकट रहे हैं। उनके अलौकिक गुणों की मैं प्रशंसा करता हूँ। उनके लिए, जिनसे बहुत से लोग डरते हैं, मेरे हृदय में बड़ा अनुराग है। न तो मेरे और उनके दृष्टिकोणों का भेद और न मेरा कांग्रेस से अलग होना ही, जीवन को मधुर और स्पृहणीय बनानेवाले हमारे निजी सम्बन्धों में, कोई अन्तर डाल सके।

सन् १९२८ ई० में पहलेपहल मैं सरदार वल्लभभाई के निकट सम्पर्क में आया। उस समय वे बारदोली के सत्याग्रह-आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। उसी समय मैं बम्बई की विधान-परिषद् का स्वतन्त्र सदस्य था। उस समय लेस्ली विल्सन् गवर्नर थे। उन्होंने मुझसे कहा कि बारदोली में अधिकारियों ने सख्ती नहीं की है और इस सम्बन्ध में झूठा प्रचार किया गया है। मैंने उनको वहाँ जाने का

और सब बातें देखने का वचन दिया । मैं वहाँ गया—सब कुछ देखा और मैं पराभूत हो गया । फलतः मैंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया ।

वहाँ मैं बारदोली के सरदार से, जो अब भारत का सरदार है, मिला। उस समय वे अपने कार्य में लगे हुए थे। उनके नेतृत्व ने मुझे आकृष्ट किया। उन्होंने सामूहिक प्रतिरोध की एक ऐसी युक्ति गढ़ी, जिससे मैं गान्धीजी के सिद्धान्तों से सहमत हो गया, जिनको पहले मैं व्यावहारिक ही नहीं समझता था ।

इसके बाद सन् १९३० आया और साथ में आया ऐतिहासिक डाँडी-प्रस्थान । प्राणोत्सर्ग की देश-व्यापी प्रेरणा ने, जिसकी गान्धीजी ने पुकार की थी, मुझे आकृष्ट किया। मैंने देश को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं, कांग्रेस का सदस्य बना, नमक-सत्याग्रह में भाग लिया और जेल चला गया । गान्धी-इर्विन समझौते के बाद मैंने सरदार को कराँची-कांग्रेस का सभापतित्व करते देखा ।

सन् १९३२-३३ ई० में हम लोग भिन्न-भिन्न जेलों में थे। सन् १९३४ ई० में, जेल से छूटने पर, हम लोग एक दूसरे के अधिक निकट आये । विधान-सभा के चुनाव के समय पहले तो मैंने उनके इस विचार का विरोध किया कि मैं चुनाव में खड़ा होऊँ, परन्तु अन्तिम क्षण में जब श्रीनरीमन् चुनाव के मैदान से हट गये, उन्होंने उसी स्थान के लिए खड़े होने का मुझसे फिर आग्रह किया । इस समय कांग्रेस की मर्यादा की रक्षा का प्रश्न था। मैं राजी हो गया। इसी कार्य ने उनकी मैत्री की जड़ जमाई ।

तब सन् १९३६ के चुनाव आये। मैंने देखा कि वे चुनावों का प्रबंध करते थे, उम्मेदवार खड़े करते थे, और एक ही केन्द्र से निकली भिन्न-भिन्न शक्तियों को आपसी भेद दूर कर देनेवाली सामञ्जस्य-पूर्ण आज्ञा देते थे। मैंने उन्हें सम्पूर्ण देश में मनुष्यों तथा अन्य शक्तियों को एकत्र करते, उन्हें व्यवस्थित और अनुशासित करते, विरोधी दलों को तोड़ते, तथा नूतन शक्तियों को बटोरते हुए देखा। जब वे बंबई में थे, मैं अक्सर उनके साथ रहा और प्रशंसा एवं श्रद्धा के साथ उनकी मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता रहा।

एक राय की पार्टी बनाने में जो दिक्कतें सरदार को हुईं उन्हें बहुत कम लोग जानते हैं। उन्होंने श्रीखेर को चुना और हममें से कुछ लोगों को नियुक्त किया कि उनकी स्वीकृति ले आवें। उन्होंने सारे कार्यों का आयोजन इस प्रकार किया कि श्रीखेर ही नेता चुने गये। यह चुनाव सरदार के नेतृत्व के एक सफल उद्योग का नमूना था। यदि यह सब न होता तो बम्बई की कांग्रेस-सरकार को भयंकर असफलता होती।

उस समय कांग्रेस एक देशव्यापी महत्त्वाकांक्षाओं का मानो उद्दीप्त समुदाय थी। यह सरदार की ही विलक्षण बुद्धि थी जिसने देश में नियम और अनुशासन कायम किया। रात्रि के समय मैंने उन्हें देश भर के और दूर-दूर से आये हुए बुलावों का उत्तर देते देखा और सुना भी। ये उत्तर स्वल्प होते थे और निश्चित आदेशों और निर्णयों के साथ

दिये जाते थे। ये उत्तर प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से विप्लव-कारी होते थे।

सत्ताईस महीने के लिए जब मैं कांग्रेस-सरकार में गृहमंत्री था, मेरा उनसे सबसे घनिष्ठ संपर्क रहा। यह एक गलत धारणा है कि मंत्रि-मंडल के कार्यों में वे हस्तक्षेप करते थे। बात यह थी कि वे मंत्रियों के कार्यों का निरीक्षण करते थे और उनके कार्य में तभी दखल देते थे जब वे गवर्नरों के खिलाफ एक शक्तिशाली केन्द्र बनाने के प्रयत्न में कुछ दबते थे। शक्ति-संग्रह के लिए उनका बड़ा ही व्यापक और संगठित कार्य-क्रम था। हम लोग कभी-कभी कमजोर पड़ते थे। अनेक अवसरों पर हम लोग यही नहीं समझ पाते थे कि किस प्रकार की कार्य-प्रणाली से गवर्नर लोग मुझ वैधानिक अधिकारी की स्थिति में डाले जा सकते थे। ऐसे ही अवसरों पर सरदार का हमारे कार्य में हस्तक्षेप होता था।

वल्लभभाई के द्वारा जो आपसी समझौते की बात-चीत वायसराय और गान्धीजी में हो रही थी, उससे मेरा भी सम्बन्ध था। सरदार नवंबर, सन् १९३९ ई० में राजकोट के साथ, जो समझौते की बातचीत कर रहे थे, उससे भी मेरा सम्पर्क था। सन् १९४० में वायसराय के साथ समझौते की जो विफल वार्त्ता हुई, उसकी भी मुझे जानकारी थी। इन सारे कामों में मैंने सरदार का सूक्ष्म परिज्ञान, मनुष्य की ताकत और कमजोरी का सही सही अन्दाज तथा उपस्थित काम के लिए आवश्यक तथ्यों की पूरी और ठीक-

ठीक जानकारी देखी । सबसे बढ़कर इस सबकी आड़ में मैंने उन्हें एक बहुत बड़े बागी के रूप में देखा, जो गान्धी गुरु के नेतृत्व में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लड़ाई कर रहा था—केवल शब्दों द्वारा नहीं, वरन् खुली लड़ाई के मैदान में और गुप्त कूटनीति के क्षेत्र में—मानव प्रयत्न को जुटाकर और महत्त्वाकांक्षाओं को क्रियात्मक बनाकर ।

सन् १९४० ई० में हम लोग यर्वदा जेल में एक साथ थे । उस समय उनके जीवन का इन्सानी पहलू देखने का मौका मिला । वहाँ वे हँसी-मजाक करते और हँसी की कहानियाँ कहते थे । वे हमारे गृह-प्रबन्धक बन बैठे—हमारे लिए चाय बनाने लगे और भोजन तथा अन्य प्रबन्धों की देखभाल करने लगे । हम लोग घंटों साथ-साथ टहलते । वे उस समय अपने बचपन की कहानियाँ सुनाया करते । गान्धी के प्रारम्भिक सम्पर्क की बातें बताते, जिनकी थोड़ी बहुत जानकारी मुझे भी थी । धीरे-धीरे मेरे प्रति उनका स्नेह दृढ़ हो गया । और जब मार्च, सन् १९४१ में, मैं बहुत बीमार पड़ा—जब कि डाक्टर गिल्डर ने हर समय बड़ी ही सावधानी से मेरी परिचर्या की—मैंने सरदार को एक माता के समान कोमलचित्त-युक्त होकर अपनी देखभाल करते देखा । फिर जब जेल से छूटने पर मैं अर्ध-मूर्च्छित अवस्था में बीमारों की टिख्टी (स्ट्रेचर) पर बाहर लाया गया, तब मुझे याद है कि मैंने देखा, यही अदमनीय महानुभाव दयार्द्र दृष्टि से मुझे देख रहे थे ।

परन्तु संसार की निगाह में सरदार मितभाषी हैं । कुछ

लोग तो यह तक समझते हैं कि वे चुप्पे और एक बहुत ही धूर्त पुरुष हैं, जो कांग्रेस की प्रत्येक नीति के लिए जिम्मेदार हैं। इसी बात के वे लोग विरोधी भी हैं। उन्हें जनसमुदाय की वैसी सर्व-प्रियता प्राप्त नहीं है, जैसी कि मसलन पं० जवाहरलाल को प्राप्त है। उसके लिए उनमें पात्रता भी नहीं है। वे एक बहुत ही तटस्थ व्यक्ति हैं। गान्धीजी तथा कांग्रेस से भिन्न वे कोई निजी परम्परा कायम करना नहीं चाहते। पर जहाँ कहीं ताकत की जरूरत आ पड़ती है, वज्र-प्रहार के लिए वे ही चुने जाते हैं। उस काम को वे बिना मुआफ़ी के तकाजे के ही करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि एक क्रूर-साम्राज्यवाद से सामूहिक शक्ति के साधन के बिना नहीं भिड़ा जा सकता।

गान्धीजी के शक्तिरूपी ढाँचे की वे कार्यशील भुजा के समान हैं। यह शक्ति का ढाँचा—यह साम्राज्य—कांग्रेस से बढ़कर है और इस संस्था का मुख्य स्तंभ है; क्योंकि वास्तविकता यह है कि कांग्रेस में ऐसे बहुत से लोग हैं जो इस साम्राज्य के पूरे तौर से अंग नहीं हैं। संसार भर में गान्धीवादी हैं। वे लोग आत्म-प्रेरणा और मार्ग-प्रदर्शन के लिए गान्धीजी की ओर ताकते हैं, उनकी आज्ञाओं के पालन में उन्हें प्रसन्नता होती है और उन्हीं की संभावित स्वीकृति की कसौटी पर वे अपने आचरण को परखते हैं। ये लोग केवल कांग्रेस, ए. आई. यस्. ए., हिन्दी प्रचार, ए. आई., वी. आई. ए. या कस्तूरबा ट्रस्ट में ही सीमित नहीं हैं। ऐसे अनेक वकील, डाक्टर, करोड़पती सेठ एवं अधिकारी व्यक्ति इन संस्थाओं

से बाहर हैं, जो आज्ञा दिये जाने पर उनकी इच्छाओं की पूर्ति शीघ्र ही करते हैं। स्त्री-पुरुषों की इस विशाल सेना का कार्यक्षेत्र यद्यपि न्यूनाधिक मात्रा में सीमित है, तथापि मानो देवदूतों का वह वर्ग है, जो गान्धीजी के 'साम्राज्य' को सँभाले है।

इस विशाल संस्था का निर्माण गान्धीजी के सबसे महान् कार्यों में से एक ऐसा कार्य है जिसका जोड़ इतिहास में नहीं। एक समय था जब सीजर ने या अकबर ने बल की सहायता से इसी तरह के साम्राज्य का निर्माण किया था; पर गान्धीजी ने आज उसी का निर्माण बिना बल-प्रयोग के कर दिखाया है। यही उनकी महिमा है।

इस साम्राज्य का एक बहुत बड़ा भाग वल्लभभाई द्वारा संचालित है। गान्धीजी कार्य-क्रम बनाते हैं, काम करने की प्रेरणा देते हैं, मार्ग-प्रदर्शन करते हैं, कार्य-सिद्धि का माप-दण्ड और लक्ष्य निर्धारित करते हैं, और वल्लभभाई इस बात पर निगाह रखते हैं कि सारे कार्य ठीक किये जायँ।

सरदार ने वैयक्तिक जीवन का एकदम परित्याग कर दिया है। गान्धीजी की नीति की सफलता के अतिरिक्त उनकी कोई निजी महत्त्वाकांक्षा या किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं है। यदि उनके विचार किसी समय रद्द कर दिये जाते हैं, तो गान्धीजी की राय के अतिरिक्त उनकी कोई निजी राय नहीं रह जाती। गान्धीजी के द्वारा निर्धारित मापदण्ड के सिवा उनका कोई निजी मापदण्ड नहीं है। अट्ठाईस वर्ष हुए, जब वल्लभभाई ने गान्धीजी से अपना सम्पर्क स्थापित किया था। पहले ही दिन से उन्होंने अपने

नेता से अपने मन की कोई बात नहीं छिपाई। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो बनाना चाहा—अर्थात् निमित्त-मात्र—गान्धीजी के लिए वे वही बने रहे हैं।

वल्लभभाई के समान दृढ़-प्रकृति और कार्यदक्ष पुरुष का यह आत्मसमर्पण आध्यात्मिकता की सीमा को स्पर्श करता है। सरदार के राग-द्वेष बहुत दृढ़ हैं। मनुष्यों के साथ उनके व्यवहार का ढंग बड़ा ही उग्र है। गान्धीजी का दृष्टि-कोण, उनके दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्तम है और उनकी कार्यप्रणाली अहिंसात्मक है। वल्लभभाई का मनुष्यों और तथ्यों का निर्णय एकदम त्रुटिरहित और यथार्थ होता है। इन्हीं चीजों के सम्बन्ध में गान्धीजी की गुण-ग्राहकता उदार होती है, और कभी-कभी इतनी असंगत कि आदर्शवादी लगने लगती है। वल्लभभाई मनुष्यों की महत्त्वाकांक्षाओं और भय की भावनाओं से मनमाने ढंग से काम ले सकते हैं, जब कि गान्धीजी उनकी उदार भावनाओं से। यदि अधिकार हथियाने-वाले राजनीतिक मामलों में वल्लभभाई का निर्णय हमेशा ठीक उतरता है, तो गान्धीजी का नैतिक दृष्टिकोण उसे विशुद्ध करके वह नोक और धार देता है जो अप्रतिहत होती है। सरदार जो महान् कार्य कर रहे हैं उसका आम तौर पर लोग अनुमोदन नहीं करते। इसका कुछ कारण तो यह है कि उन्होंने गान्धीजी को आत्मसमर्पण कर दिया है। किसी बात का श्रेय वे खुद अपने को नहीं देते। न यही चाहते हैं कि गान्धीजी के निमित्तमात्र के अतिरिक्त वे किसी अन्य रूप में प्रसिद्ध हों।

इस बात को बहुत कम लोग समझते हैं कि दूसरे पुरुष की आत्मा में, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, अपने को लय कर देना नितान्त असंभव है। मैं तो निजी अनुभव से यही जानता हूँ कि दूसरे पुरुष के 'सत्य' को अपना सत्य स्वीकार कर लेना और उसके लिए मरने को तैयार रहना बहुत ही कठिन है। गान्धीजी के प्रति श्रद्धा-भक्ति ही उनके जीवन की आधारशिला है।

भारत की व्यावहारिक राजनीतिरूपी शतरंज की बिसात पर सरदार एक दक्ष खिलाड़ी हैं। यह बिसात पूरे भारत में, और उसके समग्र क्षेत्रों में फैली हुई है। उनकी निगाह हर मोड़रे पर रहती है, चाहे वह शत्रुपक्षी हो चाहे मित्रपक्षी। भारत के अंग्रेजों को वे अथक निगाह से देखते हैं। साथ ही कांग्रेस के दलों में, विधानमण्डलों में, सार्वजनिक जीवन में, प्रजामण्डलों में और केन्द्रीय सरकार में वे प्रत्येक छोटी-बड़ी चाल की गणना करते रहते हैं। अपने मौन से, जिसकी थाह लगाना प्रायः दुष्कर होता है, उन लोगों को वे वाचाल बना दे सकते हैं। उनके सामने, खुले तौर पर, आपस के द्वेष, महत्त्वाकांक्षाएँ, बहकावे, शिकायतें और आक्षेप प्रकट किये जाते हैं। वे सभी उनके मस्तिष्क की अनुद्बुद्ध अवस्था में ही अंकित हो जाते हैं; वहीं उनकी छानबीन और उनका फैसला भी हो जाता है। मानव प्रवृत्तियों से काम लेने की आश्चर्य-मयी तीक्ष्ण दृष्टि का और अपनी अधिकतर त्रुटिरहित चालों का कार्यक्षेत्र इन्हीं मानवीय दोषों के निरीक्षण में उपलब्ध होता है।

यदि चुनाव हो रहे हैं तो समग्र भारत, हर प्रान्त, प्रत्येक नेता और हरएक प्रभावशाली सदस्य के ऊपर उनका ध्यान रहता है। जब मंत्रिमण्डल कार्य करते थे तब प्रत्येक मंडल, उसके सदस्यों के भीतरी सबंध, अंग्रेजों की तरफ उनका रुख, सभी कुछ सरदार के सतर्क निरीक्षण के भीतर था। कांग्रेस की सभाओं में, जहाँ परस्पर विरोधिनी महत्त्वाकांक्षाएँ सहयोगी कार्य को बिगाड़ती हैं, वे उच्चाभिलाषी लोगों को मानों सौ नेत्रों से देखते और उन्हें अनुशासित करते हैं। चालों के घात-प्रतिघात रूपी जाल में से भी, वे ऐसी त्रुटिरहित व्यवस्थाएँ निर्धारित कर देते हैं जिनका केवल एक ही लक्ष्य होता है—भारत में सामूहिक बल को उत्पन्न करना तथा अंग्रेजी शासन का अन्त करना।

एक नेता की हैसियत से सरदार में बड़े गुण हैं। वे अमित साहसवाले व्यक्ति हैं। राजकोट-आन्दोलन में उन्हें मार डालने के अनेक प्रयत्न किये गये। भावनगर में एक बार उन्हें माला अर्पित करने के इच्छुक एक सौदागर द्वारा आकस्मिक रूप से रोके जाने से ही वे चकनाचूर किये जाने से बाल-बाल बच गये। इसी तरह बड़ौदा में भी अकस्मात् ही पीटे जाने से बच गये। वह घटना इस प्रकार है। "औद्योगिक झगड़ों का कानून" (Industrial Disputes Act) पास होने पर साम्यवादी दल ने श्रम-सबंधी झगड़े खड़े किये। हम लोग एक मोटर-कार पर जा रहे थे कि एक क्रोधाकुल आदमी ने हमारी कार की पिछली खिड़की पर एक लौहदण्ड से प्रहार किया, जिससे शीशे में हजारों दरारें पड़ गईं।

सौभाग्य की बात यह थी कि शीशा एक खास किस्म का था जो टूट नहीं सकता था। इससे शीशे के टुकड़े नहीं हुए। ऐसे अवसरों पर सरदार जरा भी विचलित न होते थे। वे जोखिम से बचने की चेष्टा भी नहीं करते थे। वे तो उनमें आनन्द लेनेवाले पुरुष हैं। उनके साधन आश्चर्य-पूर्ण हैं और वे विरोधी उपायों को विफल करने की अगणित चालें निकाल सकते हैं। वे लोगों में श्रद्धा भी पैदा करा सकते हैं; जिनके साथ काम करते हैं या जिनसे काम लेते हैं उनके ऊपर विश्वास रख सकते हैं और अपने अनुयायियों के कामों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने में कभी नहीं हिचकते।

संगठन करने की उनकी शक्ति बड़ी अद्भुत है इस देश में, जहाँ सदियों की गुलामी के कारण मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग से किसी बड़े संगठन को फैलाना असंभव है, सरदार की सूझबूझ का विशेष मूल्य है। सन् १९२८ ई० में, बारदोली में मैंने पहलेपहल उनकी संगठन करने की शक्ति देखी। अस्सी हजार लोगों का एक पूरा तालुका एक ऐसे संगठन में बदल दिया गया था, जिसमें कि अधिकारियों के महीनों के दबाव से इतना भी असर न हुआ कि उसमें जरा सी दरार भी पड़ती। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, हथियारों के जोर से एक बड़ा संगठन कायम करना आसान है। परन्तु यह कार्य नैतिक अनुमोदनों से गढ़कर—जैसा कि गान्धीजी के मामले में उनकी स्वीकृति से संपन्न होता था—या जन-समुदाय की राय के अनुमोदन द्वारा—जैसा कि सरदार ने

चालू किया था—किया जाना बहुत ही कठिन है। अनुशासन कायम रखने में वल्लभभाई की नाराजगी का हितकर डर अकसर उतना ही कारगर हुआ है जितना कि गान्धीजी के द्वारा नैतिकता के विरुद्ध ठहराये जाने का भय।

राजनीतिक गुलामी का हमारा एक इतिहास है। हम लोग सिद्धान्तों और नारों को, प्रभावशाली शक्ति बढ़ाने की कला की अपेक्षा, अधिक महत्त्व देते हैं। यदि हमें अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध लोहा लेना है तो एक दृढ़ और प्रभावशाली संस्था आवश्यक है। ऐसी संस्था की आधारभूमि स्वभावतः उग्र शक्ति ही हो सकती है—वह शक्ति जो किसी एक मसले पर सामूहिक राय से प्राप्त होती है या करोड़ों मनुष्यों के अन्तःकरणों को वशीभूत करनेवाले व्यक्ति की नैतिक स्तर पर निन्दा के भय से संगृहीत होती हैं। गान्धीजी और सरदार मिलकर दोनों बातें क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

सरदार का बल यह है कि वे अपनी कार्य-प्रणाली को गान्धीजी की अनुमतिरूपी परीक्षा के लिए समर्पित कर देते हैं। वल्लभभाई इस बात को समझते भी बखूबी हैं। सन् १९३७ ई० में श्रीनरीमन् ने गान्धीजी से यह शिकायत की कि वल्लभ भाई उन्हें कांग्रेस पार्टी के विधानमंडल के नेतृत्व से अपदस्थ करने का अनुचित प्रयत्न करते हैं। गान्धीजी ने तुरन्त ही एक कमेटी इस मामले की जाँच के लिए नियुक्त की। उन्होंने श्रीनरीमन् से यह भी कह दिया कि यदि वल्लभभाई इस तरह का अपराध करनेवाले पाये जायँगे तो वे (गान्धीजी) उनसे कोई सम्बन्ध न रक्खेंगे। कमेटी ने—

जिसमें श्री डी० यन्० बहादुरजी भी थे—जाँच की और यह निर्णय किया कि सरदार का कार्य उचित था। पर ऐसे मामलों में गान्धीजी की नैतिक भावना उस कड़े अनुशासन पर, जिसकी सरदार को अपेक्षा है, नियंत्रण रखती है और इसी कारण उस अनुशासन को अधिक प्रभावशाली बना देती है।

आम तौर पर सरदार मितभाषी हैं। बड़ी उत्तेजनापूर्ण बातचीत के बीच भी वे घंटों मौन रह सकते हैं। महज बोलने के लिए वे कभी नहीं बोलते। जब कोई काम आ पड़ता है तभी वे बोलते हैं, और जब बोलने लगते हैं तो अतुलनीय वाक्पटुता के साथ बोलते हैं। वे शब्दों द्वारा आक्रमण कर सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, हँसी उड़ा सकते हैं और श्रोताओं को रुला भी सकते हैं। परन्तु सबसे बढ़कर वे उन तीव्र शब्दों के प्रवक्ता हैं जो तीर की तरह हृदय को वेध देते हैं। परिस्थिति एवं श्रोताओं के अनुरूप उनकी भाषा बदलती रहती है। वे ग्रामीणों की मुहाविरेदार बोली बोल सकते हैं। दूसरे ही क्षण उनके मुख से बढ़िया साहित्यिक गुजराती के वाक्य निकल सकते हैं। परन्तु हर हालत में उनके शब्द कभी लक्ष्यच्युत नहीं होते।

यथार्थ में सरदार एक बड़े बागी हैं। वे अदम्य आत्म-शक्ति से युक्त, दूसरों को चुनौती देनेवाले एक वीर पुरुष हैं—भारत की स्वतंत्रता की माँग में अपने दृढ़ संकल्प में न झुकने-वाले व्यक्ति। भारत में, जहाँ कि विदेशी राज्य ने ऊँच नीच का भाव पैदा कर दिया है, वे जहाँ कहीं जाते हैं, आत्मनिर्भरता

की शक्ति का वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। इस 'हाँ-हुजूरी' और चापलूसी के जमाने में वे रूखी ईमानदारी बर्त्तते हैं, जो यथार्थ बात छिपाने की कला को नष्ट कर देती है, जिस कला का हर जमाने में बोलबाला रहा है। उनकी उग्र तथा संचालिका आत्मशक्ति ही एक आजाद और अखंड भारत का प्रतिनिधित्व करती है और ऐसे ही भारत के निर्माण में प्रयत्नशील है—उस भारत के निर्माण में, जो गुलामी से पीड़ित और फूट के भय से समाक्रान्त है।

अल्पशक्तिवाले लोग—और मैं भी उनमें से एक हूँ—प्रायः उनकी उद्दंडता से, उनकी समझौते की अस्वीकृति से—वह भी झगड़ालूपन से की गई अस्वीकृति से, कम्पित होते हैं। किसी भी विचारशील पुरुष के लिए उनमें बहुत कम आकर्षण है। जन-समुदाय जो प्रशंसा करने पर तुला होता है—उनके कल्पनापूर्ण दृष्टिबिन्दु को, उनकी व्यक्तिगत परंपरा को, उनके ज्वलंत आदर्शवाद को नहीं देख पाता, जिन बातों पर कि सामुदायिक मस्तिष्क श्रद्धा करता है। एक कल्पनाशील व्यक्ति उनकी तरफ से फिरंट हो जाता है, परन्तु इतिहास का विद्यार्थी उन्हें पहचान लेता है। प्लुतार्क की अदम्य महापुरुषों की चित्रशाला में से मानों वे उतर पड़े हैं। उनका निर्माण उन तत्त्वों से हुआ है जिनसे पृथ्वीराज और प्रताप का हुआ था।

(सरदार की ७०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर, सोशल वेलफेयर, नवंबर २, सन् १९४५ ई० में लिखे गये लेख से उद्धृत)

(६)

राजाओं के उन्मूलक

सरदार के विषय में कुछ कहना मेरे लिए सदा ही एक कठिन कार्य रहा है। इस अवसर पर तो यह और भी कठिन है, क्योंकि मेरा हृदय दुःख से भरा है।

कुछ वर्ष हुए, जब मैंने अहमदाबाद के एक वकील के रूप में, सरदार के विषय में सुना था, जो वकीलों के क्लब पर बड़ा उग्र प्रभाव जमाये हुए थे, जो अपराधियों को छुड़ाने के लिए बड़े चतुरतापूर्ण बचाव के तरीके निकाला करते थे, जो ब्रिज खेलते थे और हर एक से—गांधीजी से भी, जो हाल ही में वहाँ आये थे—हँसी-दिल्लगी किया करते थे। तभी गांधीजी के रूप में उन्हें गुरु प्राप्त हो गया और उनका जीवन बदल गया।

उन्होंने अपना संघर्षात्मक जीवन, अपने ही जिले में 'बैठ' प्रथा के विरुद्ध—जो एक प्रकार का भिखमंगापन है—व्यावहारिक आज्ञाभंग जारी करके, शुरू किया था। उसी समय एक ऐसा हिन्दुस्तानी मिला जो एक अंग्रेज

कमिश्नर को अपने दफ्तर में बुलाने का दुःसाहस कर सकता था, और इसी एक ही प्रहार से गुजरात में अंग्रेजी नौकरशाही की दृढ़ भित्ति धराशायिनी हो गई।

तभी सरदार ने अहमदाबाद के नागरिक जीवन का निर्माण किया। वे गांधीजी की परम्परा के अनुसार शक्ति-संचय के लिए उनके दाहिने हाथ हो गये। यह ताकत की ऐसी इमारत थी जो इतिहास में बेजोड़ और गांधीजी के महान् कार्यों में से अन्यतम थी। गांधीजी कार्य-प्रणाली निर्धारित करते थे, कार्य की प्रेरणा और सलाह देते थे, कार्यसिद्धि का मापदण्ड और कार्य का लक्ष्य निर्धारित करते थे, जब कि सरदार की निगाह कार्य के सम्पादन पर रहती थी। गांधीजी की विस्तृत कार्य-योजनाओं को पूरा करने में सरदार ने अपने वैयक्तिक जीवन का परित्याग कर दिया था और गांधीजी की नीति को सफलता के अतिरिक्त निजी महत्त्वाकांक्षाओं को भी त्याग दिया था। श्रीकृष्ण, अर्जुन को जो बनाना चाहते थे—निमित्तमात्रम् अर्थात् केवल निमित्त—गांधीजी के लिए वे वही थे।

सन् १९२९ ई० में बारदोली में पहलेपहल उनके निकट सम्पर्क में आने पर मैंने उनकी संगठन करने की शक्ति देखी। अस्सी हजार आदमियों का पूरा तालुका एक समूचे संगठन के रूप में तबदील हो गया था। मैंने वहाँ देखा कि सरदार क्या कुछ कर सकते थे, किस तरह वे गांधीजी के सत्याग्रहरूपी अस्त्र से सामूहिक दबावरूपी एक अहिंसात्मक इंजन का निर्माण कर सके थे। मानवचरित्र की

सबलताओं और निर्बलताओं के निरीक्षण की उनकी विलक्षण शक्ति, कार्य-साधनों के एकत्रीकरण की क्षमता, अपनी प्रसन्नता के हितकारी भय के द्वारा अपने अनुयायियों की भक्ति उत्पन्न करने की क्षमता आदि के समन्वय ने, सत्याग्रह-रूपी अस्त्र को एक बड़ी ही तीक्ष्ण धार से सम्पन्न किया और बारदोली में भारत की स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई जीती। उस समय मैंने जाना कि गांधीजी का उपदेश मानो हीनयान गांधीवाद था, पर सरदार ने उसे महायान गांधीवाद में परिणत कर दिया था।

सन् १९३६ ई० में जब वे चुनावों का प्रबन्ध कर रहे थे, उसके लिए उम्मेदवार खड़े कर रहे थे, मंत्रिमंडलों का निर्माण करते थे एवं उन्हें अनुशासित करते थे, और एक ही केन्द्र से निस्सृत विभिन्न शक्तियों को एक कर देनेवाली ताकीद देते थे, तब मैंने अखिल भारत की भूमिका पर संचालित उनकी संगठन बनानेवाली शक्ति देखी थी। पूरे देश में तभी उन्होंने जनसमुदाय और कार्यशक्तियों का संगठन किया, उन्हें अनुशासित किया, विरोधी दलों को भग्न किया और नवीन शक्तियों का एकत्रीकरण किया। उस समय कांग्रेस-संस्था महत्त्वाकांक्षाओं का मानो एक देशव्यापी उद्दीप्त समुदाय थी; यह सरदार की ही प्रतिभा थ, जिसने उसे नियमबद्ध और अनुशासनयुक्त किया।

सत्ताईस महीने तक, जब मैं बंबई के कांग्रसी मंत्रिमंडल में गृहमंत्री रहा, मैं उनके निकटतम सम्पर्क में आया। कार्यशक्ति उत्पन्न करने की उनकी प्रणाली बहुत विस्तृत थी।

हम लोग अकसर कमजोर पड़ते थे, और अनेक अवसरों पर यही नहीं समझ पाते थे कि गवर्नरों को केवल वैधानिक अधिकारी की स्थिति में डाल देनेवाली कार्य-प्रणाली क्या है। ऐसे ही अवसरों पर सरदार प्रकट होते थे।

सन् १९३७ ई० से लेकर सन् १९४० ई० तक सरदार द्वारा चालू रहनेवाले राजकोट-संबंधी समझौतों की, सन् १९३९ ई० के नवंबर की मंत्रिमंडलों की सत्ता की अन्तिम स्थितियों की और सन् १९४० ई० के वायसराय के साथ होनेवाले निष्फल समझौतों की जानकारी मुझे थी। उनकी पैनी दृष्टि के लिए मानवीय सबलताओं और निर्बलताओं के संबंध में उनके गंभीर ज्ञान के लिए तथा लक्ष्यप्राप्ति के लिए आवश्यक तथ्यों की सही-सही जानकारी के लिए मैंने उनका प्रशंसा की। पर इन सबके परे मैंने उनके उस 'बड़े बागी' के रूप को देखा जो प्रताप की भाँति स्वतंत्रता के स्व-निर्मित वायुमंडल में रहता था, क्रियाशील था और अपनी सत्ता कायम किये था।

सन् १९४० ई० में हम लोग यरवदा जेल में इकट्ठा हुए। उस समय मैंने सरदार के स्वभाव का एक बहुत गहरा इन्सानी पहलू देखा। वे हँसते थे, मजाक करते थे और हँसानेवाली अजीब कहानियाँ सुनाते थे। वे हमारे गृहप्रबन्धक बन बैठे, हमारे लिए चाय बनाते और हमारे भोजन आदि अन्य प्रबन्धों का निरीक्षण करते थे। मार्च, सन् १९४१ ई० में जब मैं सख्त बीमार हुआ, तब वे एक माता की सदयतापूर्ण चिन्ता के साथ मेरी देखभाल करते थे। कुछ

समय बाद जब मैं बड़ी नाजुक हालत में बीमारोंवाली स्ट्रिचर (स्ट्रेचर) पर बाहर लाया जा रहा था, तब मैंने इन अदम्य पुरुष के नेत्रों में एक ऐसा भाव देखा जो पहले कभी नहीं देखा था। वह थी एक उत्कृष्ट सदयता।

इसके बाद सन् १९४६-४७ ई० में समझौतों का समय आया, जो कि शासन प्राप्त करने के लिए अन्तिम निर्णय का अवसर था। उस समय आंग्ल-भारतीय-कूटनीतिरूपी शतरंज की बिसात पर सरदार एक सुचतुर खिलाड़ी के रूप में प्रकट हुए। उनकी निगाह हर मोहरे पर थी—चाहे वह स्वपक्ष का रहा हो या विपक्ष का। उन्होंने अथक निगाह से सारी परिस्थिति पर गौर किया। उन्होंने कांग्रेसदल में, व्यवस्थापिका सभाओं में, सार्वजनिक जीवन में और केन्द्रीय शासन में छोटी-बड़ी सभी चालों को सोचा विचारा। उन्होंने अपने अथाह मौन से लोगों को मुखरित किया; अपरोक्ष रूप से आपसी द्वेषों की महत्त्वाकांक्षाओं को, भेद-भावनाओं, शिकायतों और आक्षेपों को अपने अन्तर्मानस पर अंकित किया, उनका विश्लेषण किया और उन पर फैसला किया; क्योंकि जो ढाँचा वे बनाना चाहते थे उसे तैयार करने के लिए उनकी पैनी बुद्धि को क्रियाशील बनाने के हेतु यही उपयुक्त सामग्री थी।

सन् १९४६ और सन् १९४७ ई० में कई महीने हम 'बिड़ला-भवन' में एक साथ रहे। उस समय मैंने कुछ सभाओं में भी भाग लिया। वह समय बहुत महत्त्वपूर्ण था। एक ओर से मुसलिम लीग और दूसरी ओर से भारत के राजा

लोग एक सम्मिलित मोर्चा कायम करने की कोशिश कर रहे थे, और उस संघर्ष में सरदार मानो सुई की नोक भर भूमि के लिए भी लड़ रहे थे। सन् १९४८ ई० में १५ अगस्त के कुछ ही दिन पहले भारतीय राजाओं का एक विरोधी दल सहसा उठ खड़ा हुआ, जिसका कार्य-क्रम यह था कि पाकिस्तान की सीमा को सिंध की सरहद से लेकर एक ओर भोपाल की सरहद और दूसरी ओर सूरत की सरहद तक बढ़ा दें। यह उन लोगों की बड़ी साहसपूर्ण और भयंकर चाल थी, जो हमारी नई-नई आजादी को छिन्न-भिन्न करना चाहते थे। इसमें मेरा कौतूहल बहुत महत्त्व-पूर्ण था; क्योंकि मैं उस समय उदयपुर के महाराणा का वैधानिक सलाहकार (Constitutional Advisor) था, जो स्वयं भी इस मकड़ी के जाले में फँसने को आमंत्रित थे। परन्तु यह संगठन सरदार द्वारा चूर्ण कर दिया गया, उसका हरएक अंग अलग और नष्ट किया गया। इसका परिणाम पूर्णरूप से देश का एकीकरण हुआ।

जूनागढ़ का विलयन एक दूसरा समुज्ज्वल महान् कार्य था, और हैदराबाद का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण। नव महीने तक मैंने उनकी मातहती में हैदराबाद में एजेन्ट जनरल के पद पर काम किया। यह लायकअली का शासन-काल था। हैदराबाद के पास द्रव्य था, प्रभाव था और दिल्ली और लंदन में उसके प्रभावशाली मित्र थे। मैं किसी दिन हैदराबाद पर कैसे विजय हुई, यह कथा कहूँगा; पर भारत के एकीकरण के कार्यक्रम में सरदार का यह कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

सम्राट् समुद्रगुप्त को 'राजाओं का उन्मूलक' कहा जाता है। विष्णु के अवतार परशुराम की तो ख्याति ही यह है कि उन्होंने राजाओं का उन्मूलन किया था। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि जिन राजाओं का उन्मूलन तब किया गया था, उन्होंने अपने उन्मूलनकर्त्ता के लिए उसके दीर्घजीवी होने की प्रार्थना की थी कि नहीं। परन्तु इन राजाओं के उन्मूलक के लिए प्रत्येक राजा ने, जिसको कि पदच्युत किया जा चुका था, अपने ही उन्मूलक के दीर्घजीवी होने की प्रार्थना की।

यह उन्हीं की ताकत थी कि देश में अनुशासन कायम रहा, साम्यवादी शक्तियों का विघटन हुआ, देश में कांग्रेस के प्रभाव को कमजोर करनेवाली विरुद्ध शक्तियाँ असमर्थ हुईं, सिक्खों की अपने को पृथक् रखने की प्रवृत्तियाँ दबीं और 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ' विनीत हुआ। इसी संघ के प्रधान संचालक श्री गोलवालकर, जिन्हें सरदार ने ही जेल भेज दिया था, नागपुर से हवाई यात्रा तय करके सरदार को अन्तिम अभिवादन करने आये थे। इससे बढ़कर सरदार की शक्ति सत्ता का और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि कांग्रेस का कार्यप्रणाली पर उनका नियंत्रण रहता था, उन्होंने आई. यन. टी. यू. सी. का संचालन किया था, वे प्रधान मंत्रियों के बीच में मतैक्य स्थापित करनेवाली शक्ति थे और अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक भारत-सरकार के एक शक्तिशाली व्यक्ति रहे थे। 'मथीरन' (Matheran) के लिए प्रस्थान करने के पहले

मैं ता० १३, बुधवार की रात्रि में उनसे मिला था। बंबई में उनके आने पर ऐसा लगा कि उनमें फिर से शक्ति का संचार हो गया है। कुछ मिनट तक उन्होंने एक आवश्यक प्रश्न पर मुझसे अपनी पूर्व शक्ति के अनुरूप वार्त्ता की। उनके नेत्रों में वही पुरानी अदमनीयता की छाप थी। पर यह नाशोन्मुख ज्वाला की अन्तिम लहर थी। यह ज्वाला ३६ घंटे बाद बुझ ही गई।

वे साहसी थे, शक्ति-सम्पन्न थे, अपनी अभिरुचियों और पूर्वनिर्धारित विचारों में दृढ़ थे, आमूलचूल यथार्थवादी थे और उन्होंने अपने आखिरी ३२ वर्षों तक भारत की शक्ति एवं सुदृढ़तारूपी भित्ति को मानो एक-एक ईंट से चुन-चुन-कर बनाया था। परन्तु इस शक्ति और सबलता की तह में एक कृषक की सादगी थी, जिसे कोई पदार्थ विकृत नहीं कर सका, और उन लोगों के प्रति सचाई थी जिनको उन्होंने अपना स्नेहभाजन बना रक्खा था। एक अदमनीय चेतना ने उन्हें मातृभूमि के लिए आत्म-समर्पण करने की प्रेरणा दी थी।

उसी के लिए वे जीवित रहे। उन्होंने कार्य किया, कष्ट झेले और अपने नामाक्षरों को सदा के लिए भारतभूमि के श्रेष्ठ सुपुत्रों के बीच भारतीय इतिहास की तालिका में अंकित कराया।

मेरे जीवन में तीन व्यक्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा। श्रीअरविन्द का—जब मैं बड़ौदा कालिज में छात्र था; सरदार का—जब मैंने बारदोली के मसले पर बंबई की कौंसिल से त्यागपत्र दिया था; गान्धीजी का—जब मैंने नमक-सत्याग्रह

में भाग लिया था। दो वर्ष हुए, गान्धीजी नहीं रहे। थोड़े ही दिन हुए, श्रीअरविन्द ने संसार से विदा ली। अब सरदार भी चल बसे। पुराने खेवे के लोगों से मेरा संबंध विच्छिन्न हो रहा है। तत्काल संसार स्तब्ध है; क्योंकि इन महान् व्यक्तियों की भौतिक सत्ता का उसमें अभाव हो गया है।

(दिसंबर २१, सन् १९५० ई० को रेडियो पर किया हुआ सम्भाषण)

(७)

मालवीयजी महाराज (१)

यह देश आज अपने श्रेष्ठ पुत्रों में से एक विशिष्ट पुत्र—पण्डित मदनमोहन मालवीय—की मृत्यु पर शोक प्रकट करता है।

वे भारतीय राष्ट्रीयता को जन्म देनेवालों में से अन्यतम थे। कांग्रेस के कायम होने पर लगभग उसी समय से उनका संबंध इस संस्था से हुआ और उनकी मृत्यु पर्यन्त यह संबंध सक्रिय रूप में बना रहा। उनका संघर्ष वैधानिक उपायों पर आश्रित था। उन्होंने सत्याग्रह-आन्दोलन का नेतृत्व किया और अपने जीवन-काल में कांग्रेस को दिल्ली में शासनारूढ होते देखा। तीन बार वे कांग्रेस के सभापति हुए, और तीन बार हिन्दू-महासभा के। शायद ही कोई ऐसा राजनीतिक कार्य हो जिसका समर्थन उन्होंने सोत्साह न किया हो।

परन्तु मालवीयजी केवल एक राजनीतिज्ञ ही नहीं थे। वे भारत के लिए एक राष्ट्रीय भाषा के आन्दोलन के विधायक

थे और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा हिन्दी से संबद्ध भाषा और साहित्य के आन्दोलन के जन्मदाता थे। भारत में वे सबसे बड़े शिक्षा-विधि में व्युत्पन्न व्यक्ति थे, जैसा कि उनकी हिन्दू-विश्वविद्यालय की संस्थापना एवं उसके संचालन से स्पष्ट है। वे एक उद्भट विद्वान् थे। संस्कृत के पुनरुत्थान को उन्होंने वह सफलता दी, जिससे भारतीय भाषाओं के पुनर्विकास के युग का प्रवर्त्तन हुआ है। हिन्दू-धर्मसंबंधी व्यवस्था तथा उसके विधि-विधान के वे सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे। यथार्थ में, वे काशी की मानो सजीव मूर्त्ति थे—वह काशी, जो कि प्रत्येक युग में हिन्दू-परम्परा का केन्द्र रही है।

उन्होंने अनेक और अनेक प्रकार के बड़े-बड़े कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया था। परन्तु उनका व्यक्तित्व उनके कार्यों की अपेक्षा उच्चतर था। उनका चरित्र निर्मल था, और उनमें आत्म-बलिदान की भावना थी। उनका हृदय विशाल था और प्रत्येक सत्कार्य के लिए उनका अनुमोदन प्राप्त होता था। वे एक कट्टर धार्मिक पुरुष थे और जीवन को उन्नत करनेवाले आदर्शों की अनुभूति के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। वस्तुतः हर पहलू से कसौटी पर कसे जाने पर वे एक महर्षि थे। महात्मा गान्धी ने उन्हें एक बार प्रातःस्मरणीय कहा था अर्थात् एक ऐसे महात्मा, जिनका नाम सबेरे लिये जाने पर, वह मनुष्य को आत्मकलुषरूपी पंक से निकाल लेते हैं।

उनकी मृत्यु दीर्घ जीवन तथा भारतीयों के द्वारा

सस्नेह दी हुई प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बाद हुई। वे अवश्य ही देवताओं के स्नेहभाजन थे; क्योंकि उन्होंने अपने स्वप्नों की सफलता अपने जीवन में स्वयं देखी थी। इस प्रकार के कर्मशील व्यक्ति के यशस्वी जीवन का अन्त—जो जीवन साठ वर्ष की अवस्था तक कार्यशील रहा—सार्वजनीन शोक के उद्भव का हेतु नहीं होना चाहिए—विशेषकर साधारणतः मनुष्य के जीवन-काल को ध्यान में रखकर। परन्तु हमारे हृदय शोकाकुल हैं; क्योंकि उन्होंने हममें उस समय विदा ले ली, जब कि उनकी प्रेरणा की हमें अत्यन्त आवश्यकता थी।

(ता० ११ नवंबर, सन् १९४६ ई० को रेडियो पर दिया हुआ भाषण)

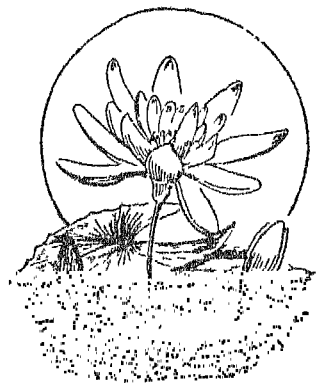

(८)

मालवीयजी महाराज (२)

पिछले शतक के देश के श्रेष्ठ पुत्रों में से, जिन्होंने हमें, जो कुछ कि हम आज हैं वैसा बनाया है, मालवीयजी या मालवीयजी महाराज का—जिस नाम से कि हम उन्हें हाल में अभिहित करते थे—बहुत ऊँचा स्थान है।

सन् १९१४ ई० में मैं पहले-पहल उनके सम्पर्क में आया था। उसी समय से वे मुझसे दिलचस्पी रखने लगे और मैं उनका भक्त बन गया। इस संबंध में मैं भाग्यशाली रहा हूँ कि पिछले ५० वर्ष में भारत की जिन श्रेष्ठ सन्तानों ने देश को गौरवान्वित करने में सहयोग प्रदान किया है उनमें से कुछ का मुझसे निकट सम्पर्क रहा है। अपने कालिज के दिनों में मैं श्रीअरविन्द के चरणों के निकट बैठा हूँ। मैंने लोक-मान्य तिलक और श्रीमती बेसेन्ट के निरीक्षण में काम किया है। मैंने मिस्टर जिन्ना के साथ भी काम किया है और जब वे भारतीय राष्ट्रीयता के उत्साही अग्रदूत थे, तब

उनके साथ मेरा व्यक्तिगत निकट सम्पर्क रहा है। सन् १९३० ई० में गान्धीजी ने मेरे जीवन को प्रभावित किया था। इनमें से वे महापुरुष, जिन्होंने मेरे अन्तस् तक को झक-झोर दिया और जिनके जीवन-वृत्त और चरित्र से मेरे जीवन के दृष्टिकोण की रूपरेखा खिंची थी, वे थे श्रीअरविन्द, महात्मा गान्धी और मालवीयजी।

सन् १८८९ ई० में, जिन महापुरुषों की आत्मा में अँग्रेजी शासन के विरुद्ध विप्लव उठ खड़ा हुआ, उनमें मालवीयजी सबसे पहले खेवे के अन्यतम व्यक्ति थे। यदि मुझे ठीक-ठीक याद है तो मालवीयजी कांग्रेस के दूसरे ही अधिवेशन से उसके साथ थे। तब से लेकर वे अपने जीवन भर उसके साथ रहे। सन् १९२० ई० में जब गान्धीजी ने इस संस्था पर सम्पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व जमा लिया था, तब भी मालवीयजी, कुछ बातों में भिन्न दृष्टिकोण रखने पर भी, उनके साथ रहे। अनेक बातों में गान्धीजी से उनका मतभेद रहा, पर उनसे उनका सम्बन्ध-विच्छेद कभी नहीं हुआ; क्योंकि वे जानते थे कि देश का भविष्य गान्धीजी के हाथों में सुरक्षित है। गान्धीजी भी उन्हें अपने बड़े भाई के समान मानते रहे।

मालवीयजी भारतीय राष्ट्रीयता-रूपी वृक्ष के सुपुष्प थे। इसका कारण यह था कि भारतीय संस्कृति की वे सर्वोच्च प्रतिमूर्ति थे। जब पंजाब पीड़ित हुआ था, जब आसाम कठिनाइयों में ग्रस्त था, जब कांग्रेस संस्था गैर कानूनी घोषित कर दी गई थी, तब मालवीयजी एकाकी सन्नद्ध होकर

राजनीतिक स्वतन्त्रता के वास्ते पीड़ितों और परतन्त्रों के लिए लड़े थे।

मालवीयजी केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वे एक गंभीर और उद्भट विद्वान् भी थे। वे शिक्षण-विज्ञान में व्युत्पन्न पुरुष थे, जिनके प्रयत्नों का परिणाम बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के रूप में पूर्णतया परिलक्षित हुआ—जो संस्था आधुनिक भारत की उत्तम संस्थाओं में से अन्यतम है और जिसका पोषण देश की राजनीतिक दासता के सबसे कठिन काल में हुआ था। इस समय यह संस्था केवल विश्वविद्यालय ही नहीं है। यह नालंदा की तरह देश की सर्वोच्च प्रतिभा को प्रदर्शित करती है और पुनः सुसंगठित भारतीय संस्कृति के प्रभाव को चतुर्दिक् प्रसारित करती है।

राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी के साथ मालवीयजी का संबंध उन्हें अमरता के लिए सबसे अधिक अधिकारी बना चुका है। हिंदी की शक्ति को सबसे पहले दयानन्द सरस्वती ने पहचाना। केशवचन्द्र सेन ने उनका अनुकरण किया। परन्तु ये मालवीयजी ही थे—जिनको भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ तथ्यों का सम्यक् ज्ञान था—जिन्होंने हिन्दी की वह शक्ति पहचानी थी, जो, प्राचीन काल में संस्कृत भाषा की भाँति, हमारे देश के जीवन और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ है।

मालवीयजी यद्यपि दयानन्द, श्रीरामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और श्रीअरविन्द की तरह नव्य हिन्दूधर्म के प्रवर्त्तक न थे, तथापि वे अपनी वाणी, कार्य और जीवन के

द्वारा हिन्दूधर्म के सर्वश्रेष्ठ तथ्यों के प्रचारक थे। वे आधुनिक शिक्षा-पद्धति द्वारा शिक्षित हुए थे और उनका अनुरोध शिक्षितों के प्रति था। वे शास्त्रनिष्णात थे और उनका अनुरोध कट्टरपंथियों के प्रति भी था। उनके व्यक्तित्व में अन्तिम शताब्दी के पुराने हिन्दूधर्म की शक्तियों का समन्वय एक विशद, सार्वजनीन, प्रगतिशील, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विश्व-शक्ति के रूप में हुआ था।

व्यक्तिगत रूप से वे इससे भी महान् थे। जिस समय गान्धीजी ने हमारे नेताओं को सेवापूर्ण जीवन के लिए सांसारिक अभिलाषाओं के उत्सर्ग की शिक्षा दी थी, उसके पहले, बहुत पहले मालवीयजी भारत की आजादी और संस्कृति के लिए सर्वस्व त्याग चुके थे। उनके जीवन में सादगी थी, वे मितव्ययी थे। उनका जीवन आदर्शवाद की उत्कट सीमा को स्पर्श करता था; उन्हें दूसरों का सदा ध्यान रहता था। वे दयालु और सहानुभूतिपूर्ण थे और सुसंस्कारों की तो आत्मा थे। धर्म और जाति की सीमित परिधि को लाँघकर, उनके हृदय में सबके लिए स्थान था। विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ और उदार वस्तु है, उसकी वे बड़ाई करते थे, वह वस्तु चाहे जिस दिशा से प्राप्त होती हो। वे मनुष्यों में श्रद्धा और भक्ति-भावना का संचार करते थे।

पिछले ३० वर्षों में भारत में गांधीजी के बाद कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसने लोगों में उच्च भावना का ऐसा संचार किया हो जैसा कि मालवीयजी ने किया, और व्यक्तिगत रूप से उतना श्रद्धास्पद रहा हो जितने कि मालवीयजी थे।

गांधीजी की तरह, वे मानो प्राचीन भारत से निकलकर आये थे और उन्होंने जीवन की अविच्छिन्न धारा का समर्थन किया था, जो कि भारत की देन है। वे सदा बनी रहनेवाली वाराणसी की मानो आत्मा थे, निरन्तर प्रशस्त जीवन का खोज में लगी रहनेवाली विद्वत्ता एवं विनम्रता के आगार थे और भँवर में चक्कर काटनेवाले आधुनिक जीवन को देखते हुए वे एक चिरंतन ब्राह्मण थे। हिन्दू-विश्वविद्यालय उनका आश्रम था। उनमें प्राचीन युग के महर्षियों की आत्मा का निवास था—जो आत्मा अपनी महती परम्पराओं द्वारा ही भारत का वह स्वरूप कायम करती है, जो कुछ कि आज वह है।

भारत एक नये भाग्य की ओर वेग से गति-शील है। हमारी क्षितिज रेखा शीघ्रता से विस्तृत होती जा रही है। हिन्दूधर्म, जो कुछ ही शताब्दी पहले एक धर्म-दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के रूप में था, अब वैसा नहीं रह गया है। उसका फिर से एक विशाल, सार्वजनीन, प्रगतिशील, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति के रूप में समन्वय किया जा रहा है, जिसे आज की स्वतन्त्रता सर्वदेशव्यापी सन्देश के रूप में परिणत कर देगी। इसी परिणति के निमित्त मालवीयजी ने अपना जीवन अर्पित किया था।

(दिसंबर ५, सन् १९४७ ई० के सोशल वेल्फेयर से उद्धृत)

(६)

अजेय आत्मसत्तावाले रोलाँ

रोमाँ रोलाँ—जो महात्मा गान्धी के बाद 'विश्वशान्ति' के सबसे बड़े अग्रदूत थे—उनका देहावसान दुन्दुभी-ध्वनि और सांग्रामिक नगाड़ों के बीच लगभग अलक्षित रूप से हो गया। वे विश्व के लिए स्नेह और सद्भावना का सन्देश लेकर आये थे, जिसे संसार ने एक बार नहीं, प्रत्युत दो बार—प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध के अवसर पर—ठुकराया।

रोमाँ के महत्त्व को—जो रोमाँ आशात्मक उद्देश लेकर आये, उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे, परन्तु आधुनिक युग के मानव की बर्बरतापूर्ण प्रवृत्तियों के कारण हताश हो गये—संसार उस समय समझेगा, जब युद्ध करने का प्रमाद नर-संहार करनेवाले पागलपन के सदृश भयावह समझा जाने लगेगा।

रोलाँ का जन्म जनवरी २९, सन् १८६६ ई० को हुआ था। कुछ निजी प्रशंसकों की छोटी मित्रमंडली को छोड़कर वे पचास वर्ष तक अविख्यात रहे। उस छोटी मंडली ने

इनकी सात्त्विक शक्ति को पहचाना, जिसकी दृष्टि में प्रत्येक जाति और देश के लोग भाई-भाई हैं। पर अन्ततः उनका यह संघर्ष—उस भाग्य के विरुद्ध, जो दुरन्त असफलताओं से उन्हें घेरे था—एक ही व्यक्ति द्वारा संघटित, वीरोचित एवं अदम्य था। वे ड्रेफस (Drayfus) को निर्दोष सिद्ध करने के लिए लड़े। उन्होंने जनता के लिए रंगमंच-निर्माणार्थ उद्योग किया, जो पूर्ण न हो सका। उन्होंने साहित्यिक आदर्शवादियों के एक छोटे से दल का नेतृत्व किया, जिन्होंने १५ वर्षों तक एक छोटी सी पत्रिका "केहेर डे ला क्विन्जे"(Cahiers de la Qwinzaine) का सम्पादन किया, जिसे थोड़े से ग्राहकों के अलावा कोई जानता ही न था। अनेक वर्षों तक वे साहित्यिक क्षेत्र से अदृश्य से रहे और अपने को एकाकी रूप से परिश्रम की परिधि के भीतर समावृत रक्खा।

अपने उत्कट विश्वास को समझाने के लिए उन्होंने एक ग्रन्थमाला का आयोजन किया, जिसका नाम था—"हमारा पहला कर्त्तव्य बड़ा होना नहीं, वरन् संसार की महत्ता का संरक्षण है।" उनके प्रारंभिक ग्रन्थों का एक ही विषय था—अदम्य वीरता की विजय का उद्घोष—वह वीरता जो किसी आदर्श के लिए धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होनेवालों का थी। अप्राप्य पदार्थ के लिए अक्षुण्ण उत्साह के द्वारा उनके अनेक वीर पुरुष समुत्तेजित थे। सफलता के बाह्य रूप से विरहित होते हुए भी वे आत्मसन्तोष के लिए जीवित रहे और मरे। उनके कार्य में संलग्न वीरात्माओं का एक विशिष्ट उदाहरण हमें

नष्टैश्वर्य हालैण्ड के उत्तराधिकारी राजकुमार एआर्ट (Aert) के रूप में मिलता है। उनकी प्रजा पराजय से अभिभूत है। भविष्य "शनैः शनैः होनेवाली अवनति" के रूप में परिलक्षित है। जैसा कि रंगमंच का निर्देश है, "विगत वर्षों" के चारित्रिक और राजनीतिक अभिभव उस संघर्ष की भित्ति हैं, जो आगे आनेवाला है"। वह यथार्थ है। जब उनके शिक्षक उन्हें मारकस ऑरिलस (Morcus Aurelius) बनाना चाहते हैं तब वे अभिमानपूर्वक उत्तर देते हैं—"मेरे मन में विचारों का समुचित सम्मान है, पर मैं उनकी अपेक्षा किसी महान् तथ्य से परिचित हूँ—अर्थात् चारित्रिक महत्ता।" जब निन्द्य विजेता उन्हें घेर लेते हैं, तो वे पुकारकर उनसे कहते हैं—"अतिकाल!" इसका भी वे साभिमान उत्तर देते हैं—"आजाद होने के लिए कभी भी अतिकाल नहीं है", और मृत्यु में उस विजय की आकांक्षा करते हैं जिससे वे जीवन-काल में वंचित रहे थे। स्वरूप उत्साह और न्यून विश्वासवाले हम मनुष्यों को रोमाँ रोलाँ का सन्देश पुनरुज्जीवित करनेवाली नवीनता के साथ प्राप्त हो रहा है।

उनके ग्रन्थों में से जीन क्रिष्टोफे (Jean Christopher) सबसे श्रेष्ठ है। वह ग्रन्थ शान्ति, सौहार्द एवं सद्भावना के लिए योरप की सदिच्छा का एक सजीव चित्र है। वह विस्फोटक आयुधों के द्वारा ध्वस्त नगरों के मलबे के नीचे अद्यावधि दबी हुई एक नव्य-योरपीय चेतना के लिए बाइबिल जैसे धर्मग्रन्थ के समान है। यह ग्रन्थरत्न जीवन की चित्र-सन्तति के समान विशद है। उनका नायक भगवद्गीता

के सन्देश के समान सम्भ्रान्त है, अर्थात् "किसी से द्वेष न करनेवाला और सबका मित्र।"

परन्तु रोलाँ की अग्निपरीक्षा का समय तब उपस्थित हुआ जब कि सन् १९१४ ई० में युद्ध छिड़ा। अकेले ही, किन्तु हाथ में कलम लेकर, उन्होंने योरप के युद्धोन्माद के विरुद्ध मोर्चा लेने का निश्चय किया। सितंबर, सन् १९१४ ई० में उन्होंने लिखा—"हम लोग अपने कर्त्तव्यों का चुनाव नहीं करते, वरन् कर्त्तव्य ही बलात् अपने को हमारे ऊपर लादते हैं। मेरा कर्त्तव्य तो यह है कि मैं उन लोगों की मदद से, जो मेरे विचारों से सहमत हैं, योरप की आत्मा के अवशेषों को नष्ट होने से बचा लूँ।" वे दण्डित किये गये। उन्हें स्विट्जरलैंड में जाकर रहना पड़ा। उनके पीछे जासूस लगाये गये। युद्ध में सम्मिलित सभी राष्ट्रों के वे शत्रु समझे गये। तथापि उनकी मनोवृत्ति ऑलिवर की मनोवृत्ति के समान—जो उनके नायक थे—रही। "मैं फ्रांस में अनुरक्त हूँ, परन्तु फ्रांस के हेतु मैं अपनी आत्मा का हनन या अपने अन्तःकरण के प्रति विश्वासघात नहीं कर सकता। ऐसा करना तो निस्सन्देह देश के प्रति विश्वासघात करना होगा। जब मुझे घृणा का अनुभव ही नहीं होता तो मैं किसी के प्रति घृणा कर ही कैसे सकता हूँ! मैं घृणा का उपहासास्पद अभिनय कैसे कर सकता हूँ?"

उन्होंने अपने को एक श्रेष्ठ कार्य में लगाया। उनकी धारणा थी कि तमाम योरप के साहित्यिक और वैज्ञानिक पुरुष घृणारूपी साम्प्रदायिक उन्माद के परे हैं। शान्तिपूर्ण

संसार के प्रति उनके कर्त्तव्य की चेतना को वे जाग्रत् करना चाहते थे। परन्तु इस मामले में यह उनका भ्रम था, जिसे दूर होना ही था। तमाम योरप के साहित्यिक और वैज्ञानिक एक उन्मादपूर्ण घृणा से कलुषित थे। अतः उनका अनुरोध केवल अरण्यरोदन सिद्ध हुआ। घृणा के विरुद्ध निकाले गये घोषणापत्रों से प्रभावित होने की समझ ही किसी में न रह गई थी। परन्तु उनका विश्वास पक्का था। उन्हें केवल वचनमात्र से सन्तोष न हुआ। जैसा कि उन्होंने एक बार कहा था कि "जन्म की शालीनता का गौरव तो उसकी विशुद्ध कुलीनता के साथ है।" परन्तु बौद्धिक शालीनता तो समग्र संसार में कातरतापूर्ण है। दार्शनिक और विचार-शील व्यक्तियों एवं साहित्यिक और वैज्ञानिक पुरुषों ने अपने विश्वास के संरक्षणार्थ शायद ही कभी आत्मबलिदान किया हो; परन्तु रोलाँ इस बात के व्यतिरेक के उदाहरण थे। उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा था, "यदि संसार के व्यवहार बिना बलप्रयोग के संचालित नहीं किये जा सकते, तो मेरे लिए यही उचित है कि मैं बल-प्रयोगवाली सत्ता के साथ किसी तरह का समझौता करने से विरत रहूँ। यही आवश्यक है कि मैं इसके विरुद्ध सिद्धान्त का समर्थन करूँ, जो कि बल-प्रयोग के सिद्धान्त को समाच्छादित कर दे। प्रत्येक को अपना-अपना निर्धारित कर्त्तव्य करना चाहिए। हरएक को अपनी अन्तरात्मा का विश्वसनीय सलाहकार होना चाहिए।"

यही कारण है कि रोलाँ ने श्रीरामकृष्ण परमहंस औ र

महात्मा गान्धी में एक सी ही आत्मा को पहचाना। उन्होंने तपस्वी के समान जीवन व्यतीत किया। उन्होंने ताड़ना की बलिवेदी पर सत्य की परीक्षा के लिए आत्मबलिदान किया।

भारतीय शब्द के विशिष्टार्थ के अनुरूप ही वे एक सच्चे भारतीय थे, जिन्होंने भगवद्गीता के आशय को समझा था और उसके अनुकूल ही आचरण करते थे। संसार उनके लिए एक भ्रातृ-सब था। वे किसी के प्रति घृणा कर ही नहीं सकते थे। न वे अपनी आत्मा के प्रति झूठे ही हो सकते थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य स्वयं अपने प्रति है, अर्थात् किसी भी मूल्य पर अपना व्यक्तित्व अक्षुण्ण बनाये रहना ही कर्त्तव्य है। यह श्रीकृष्ण के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की ही प्रतिध्वनि है। रोलाँ ने अपने जीवन में इसे निबाहा। उन्होंने कहा था—"सत्य कोई तैयार की-कराई वस्तु नहीं है; न यह कोई दृढ़तापूर्वक प्रयोग किये जानेवाले सूत्र के रूप में है, जिसे एक आदमी दूसरे को देता चले। हरएक को अपने निजी ढाँचे के अनुरूप सत्य का सृजन करना चाहिए।" इस प्रकार असत्यरूपी अन्धकार से समावृत संसार में रोलाँ एक सत्य की प्रकाश-शिखा के समान थे। गांधीजी के समान ही उन्होंने अपने निजी सत्य के अनुरूप जीवन-यापन के अधिकार के लिए संघर्ष किया। परन्तु उनके आदर्शों में से किसी की पूर्ति न हो पाई। जैसा कि ज़्वेग (Zweig) ने कहा है—"औचित्य के ऊपर शक्ति की विजय हुई है, आत्मा बलप्रयोग से अभिभूत हो चुकी है और मनुष्यता के ऊपर मानव हावी हो

गया है।" तथापि अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक रोलाँ ने विश्राम न लिया।

रोलाँ का जीवन मानो एक दैत्य (Titan) का जीवन था। कल्पनाशील लेखकों के लिए वे एक नये प्रभात के अग्रदूत थे। उन्होंने इस बात की शिक्षा दी कि सृजनात्मिका शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति कोई गुलाम नहीं है। उसे तो स्रष्टा का स्वातन्त्र्य प्राप्त है। भीड़-भाड़ के सामुदायिक उन्माद से उसकी आत्मा का कोई सरोकार नहीं। जिसके पास लेखनी का जादू है उसके लिए जनसंख्या का बल बिलकुल नाचीज है। वह अपने ही आदर्शों का अग्रदूत है और उनके लिए उसे मरने को भी तैयार रहना चाहिए। यह एक महान् सन्देशात्मक उत्तरदान है जिसे रोलाँ ने आत्मारूपी बन्धुसंघ के लिए छोड़ा है।

(नवंबर १२, सन् १९४३ ई० के सोशल वेल्फेयर से उद्धृत)

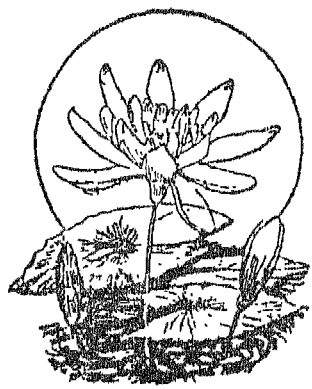

(१०)

डाक्टर एनी बेसेन्ट के जन्मदिवस पर अभिनन्दन

आधुनिक भारत के अनेक निर्माताओं में से श्रीमती बेसेन्ट एक सबसे बड़ी विदेशीय और एकमात्र योरोपियन महिला थीं, जिन्होंने पूरे तौर पर अपने व्यक्तित्व को भारत के साथ जोड़ दिया था। उन्होंने जो भी काम किये वे किसी निश्चित दायरे में नहीं रक्खे जा सकते—जैसे उनके सामाजिक सेवा या शिक्षा-सम्बन्धी कार्य अथवा धार्मिक और राजनीतिक जागृति-सम्बन्धी कार्य। बात यह है कि उनमें से हर एक तरह का कार्य, दूसरे तरह के कार्य को भी शामिल किये हुए है और उनका हर एक कार्य उनके सम्पूर्ण कार्य-कलाप का एक हिस्सा है। वास्तव में समाज सेवा या सुधार-सम्बन्धी कार्य शिक्षा-सम्बन्धी कार्य के बिना सम्भव नहीं; इसी तरह धार्मिक प्रेरणा के बिना शिक्षा-सम्बन्धी कार्य केवल द्रव्य-साधना का कार्य है। आधुनिक काल में तो हर एक काम को राजनीति के जाल में फँसा लेने की प्रवृत्ति-सी है।

सन् १८७९ ई० में कर्नल ऑल्काट ने भारत में दिये गये अपने प्रथम वक्तव्य में भारतीयों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"बच्चो, तुम्हारी माता मृत नहीं है, वरन् सो रही है।" बाद में डा० बेसेन्ट ने अपना पूरा जीवन इस सोनेवाली मा को जगाने में लगा दिया।

सन् १८९३ ई० में उनका शुभागमन भारत में हुआ था। यद्यपि उनकी जन्मभूमि आयर्लैंड थी, परन्तु उन्होंने सुनी थी भारत-माता की पुकार। सन् १८९३ ई० से सन् १८९८ ई० तक उनका कार्य-क्षेत्र मुख्य रूप से शिक्षा-सुधार रहा। सन् १९०३ ई० में उन्होंने समाज-सुधार को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। सन् १९१३ ई० से लेकर मृत्यु पर्यन्त उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने पहलेपहल अपने सारे कार्यों को शिक्षा और धर्म-सम्बन्धी पुनरुत्थान में केन्द्रित किया। उसी समय सेन्ट्रल हिन्दू कालिज और थियोसोफिकल पाठशालाएँ बनारस में स्थापित हुईं। शिक्षा-सम्बन्धी मसलों में एक व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण का समावेश सबसे पहले उन्हीं ने किया था। उस समय बाल-विवाह का प्रचार था। उन्होंने यह नियम बनाया कि सेन्ट्रल हिन्दू कालिज में कोई विवाहित बालक भर्ती न हो सकेगा।

उन्होंने भारतीय कन्याओं की शिक्षा का भी प्रश्न उठाया और भारत की स्त्रियों का सामाजिक स्तर उन्नत करने की भी चेष्टा की। उस प्रारम्भिक काल में उन्होंने हरिजनों के उद्धार में—जिन्हें वे 'दलितवर्ग' कहा करती थीं—अपने

को जगाया। हरिजनों के लिए सबसे पहली पाठशाला देश में कर्नल आल्कॉट ने ही खोली थी। इसकी तरक्की श्रीमती बेसन्ट ने की। उन्होंने बाल-विवाह-विरोध, लड़कियों की शिक्षा, विदेश-यात्रा की आवश्यकता तथा वर्ण-व्यवस्था का कट्टरपन दूर करने के लिए एक प्रचारात्मक आन्दोलन किया; क्योंकि यह कार्य कैसे किया जाता है, यह वे अच्छी तरह जानती थीं। सन् १८८५ ई० में 'पाप' और 'अपराध' को समाज की जिम्मेदारी सिद्ध करने के लिए एक नया आन्दोलन जारी हुआ। इसे शुरू-शुरू में आरम्भ करनेवाले व्यक्तियों में श्रीमती बेसेन्ट भी थीं। उन्होंने इस बात पर बड़ा जोर दिया कि अपराधी कही जानेवाली जातियों के प्रति समाज का एक निश्चित और निर्द्वारित कर्त्तव्य है; क्योंकि वे जातियाँ दोषपूर्ण शिक्षा एवं पाशविक वातावरण की उपज हैं। 'प्राण-दण्ड' का भी उन्होंने बड़ा जोरदार विरोध किया। युद्ध, प्राणदण्ड और बेंत की सजा के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई और बड़ी-बड़ी बन्दूकों के स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा एवं युद्धपोतों के बदले पुस्तकालयों की माँग की। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वैमनस्य की आग भड़कानेवाले के रूप में उस समय मेरी भर्त्सना की गई और कट्टर समाज ने अपनी महती प्रतिष्ठा के रक्षार्थ मेरी निन्दा की।

जैसा कि प्रसिद्ध है, वे सन् १८८० ई० में इँगलैंड में वेब्स, बर्नार्ड शा, और ब्रेडला की सहकारिणी थीं। वे 'फेबियन सोसायटी' की एक सबसे पुरानी सदस्या थीं, इँगलैंड की 'लेबर पार्टी' की नींव डालनेवाले व्यक्तियों

में से एक थीं और 'नेशनल-रिफार्मर' नाम के साप्ताहिक समाचारपत्र के सम्पादन में ब्रेडला की सहकारिणी थीं। दियासलाई बनानेवाले कारखानों में अधिक काम करनेवाली, साथ ही कम वेतन पानेवाली, लड़कियों के मामले को उन्होंने हाथ में लिया। भारत में भी सन् १९१८ ई० में औद्योगिक कर्मचारियों के पहलेपहल कायम किये गये संघों में से एक संघ उन्हीं के आशीर्वाद के साथ मिस्टर बी० पी० वाडिया द्वारा स्थापित किया गया था।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने सबसे बड़ा एक कार्य यह किया कि भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीय चेतना को फिर से जाग्रत् किया; क्योंकि नैराश्यपूर्ण वातावरण में किसी तरह की सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं होती। जब वे कार्य-क्षेत्र में उतरीं, उस समय शक्तिशाली स्वामी दयानन्द—जिनका शरीर तब नहीं रहा था—जनता द्वारा एक मूर्ति-विध्वंसक और क्रान्तिकारी समझे जाते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस नहीं रहे थे और उनके तेजस्वी शिष्य स्वामी विवेकानन्द विदेशों में भारत की कीर्तिपताका फहराने में प्रयत्नशील थे। परन्तु श्रीमती बेसेन्ट ने भारत में ही काम किया। उन्होंने भारतीय मस्तिष्क के मनोवैज्ञानिक ढाँचे के अन्तस्तल से कार्यारंभ किया, न कि उस ढाँचे के बाहर से। अर्थात् सामाजिक दायरे के बाहर स्थित एक समाज-सुधारक के रूप में नहीं, वरन् उस परिधि के भीतर से एक सदय और प्रवचनशील व्यक्ति के रूप में। इस लिहाज से वर्ण-व्यवस्था-संबंधी उनके विचार अपनी विशेषता रखते हैं। वे

इस व्यवस्था का उन्मूलन तो चाहती थीं, परन्तु इसकी आत्मा को नष्ट नहीं होने देना चाहती थीं। विदेश में जन्म लेने-वाली उनकी आत्मा में गीता का सन्देश प्रविष्ट हो चुका था। अपने ही उदाहरण द्वारा उसकी सत्यता उन्होंने सिद्ध की। अपने व्यक्तिगत स्वभाव एवं उसी के आलोक में निर्द्धारित अपने कार्य-कलाप द्वारा उन्होंने एक 'कर्मयोगी' का स्थान प्राप्त कर लिया था। अपने सतत प्रयत्न से उन्होंने आर्य-संस्कृति की आत्मा को फिर से ग्रहण करने की भारत को शिक्षा दी।

"हिन्दू-धर्म के बिना भारत का भविष्य अन्धकारमय है। हिन्दू-धर्म वह क्षेत्र है, जिसमें भारत की जड़ें निहित हैं और उससे विरहित होने पर देश अनिवार्यतः नष्ट हो जायगा, जैसे कि स्थानच्युत वृक्ष मुरझा जाता है। भारत का इतिहास, उसका साहित्य और कला, उसके आन्दोलन हिन्दू-धर्म से ओतप्रोत हैं। अन्य धर्मों के आगमन के पहले भारत सजीव था और उनके चले जाने पर भारत जीवित रह सकता था। परन्तु यदि हिन्दू-धर्म को चले जाने दिया जाय—वह हिन्दू-धर्म जिसकी गोद में भारत पला—तो इसके चले जाने पर भारत निर्जीव हो जायगा।"

यही वह दृष्टिकोण था, जिसने भारतीय मस्तिष्क पर सबसे गहरा प्रभाव डाला।

उनकी दृष्टि इतनी स्पष्ट थी कि उसके निरीक्षण से यह तथ्य न ओझल रह सका कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एक भ्रमात्मक सत्ता रह गई है। वे श्रीकृष्ण भगवान् के

वचनों का अध्ययन करनेवाली एक छात्रा थीं और उनका विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति, न कि उसका विशेष कुल में जन्म, शिष्यता के मार्ग को उन्मुक्त करता है और उस पूर्णता की प्राप्ति करा देता है जो भगवान् का ही रूप है।

उन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था का निर्भ्रान्त अध्ययन किया था और उसके प्रभाव का भी निरीक्षण किया था। उनका कहना था—"चाल्डिया, फ़ारस, मिसर, यूनान और रोम नष्ट हो गये। ये वे देश थे, जो किसी समय बहुत शक्तिशाली थे, इनका साम्राज्य दूर तक फैला हुआ था, और इन देशों ने गौरवपूर्ण सफलता प्राप्त की थी। भारत देश, जो इन्हीं का समसामयिक था, इन सबके बाद भी बच गया; और क्या वह नव प्रभात के उदीयमान सूर्य का अभिवादन करने के लिए आज अपना गौरवशाली मस्तक नहीं उठा रहा है? और यह अद्भुत सहिष्णुता, जिसका मुख्य कारण इस देश की गम्भीर आध्यात्मिकता है, किसी अंश में उस सुदृढ़ भित्ति पर अवलम्बित है, जो उसे वर्ण-व्यवस्था से प्राप्त हुई है—जो व्यवस्था इस देश की निजी सामाजिक दृढ़ता है, तथा इसकी आध्यात्मिक भूमिका की आन्तरिक दृढ़ता के अनुरूप है।"

उन्होंने इस बात को इस कारण कहा कि उनमें एक सुधारक की ही उत्साहमयी प्रवृत्ति न थी, प्रत्युत उन्हें यथार्थ रूप से ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी प्राप्त था। उन्होंने तो सन् १९०८ में ही कहा था—"मैं यह कहने को बाध्य हो रही हूँ कि मुझे इस बात में विश्वास नहीं है कि राष्ट्र के परि-

वर्त्तनशील जीवन को एवं उसकी सन्तानों के ऊपर अधिकाधिक पड़नेवाली जिम्मेदारियों को दृष्टि में रखते हुए भारत में वर्ण-व्यवस्था बनी रह सकेगी।"

इसके साथ ही उस प्रारंभिक काल में, जब कि हम लोग भारतीयता से सम्बद्ध प्रत्येक पदार्थ के प्रति लघुता की भावना से पराभूत हो रहे थे, श्रीमती बेसेन्ट ने एक राष्ट्र की हैसियत से हममें अपनी शक्ति के प्रति, उन परम्पराओं के प्रति, जो हमें अति प्राचीन काल से प्राप्त हैं, और अनश्वर अदृष्ट के प्रति, हमारा विश्वास जाग्रत् किया, जो हममें होना ही चाहिए था।

इस अवसर पर उचित ही है कि हमारा समग्र राष्ट्र उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे।

(अक्टूबर २४, सन् १९४७ ई० को रेडियो पर दिया हुआ भाषण)

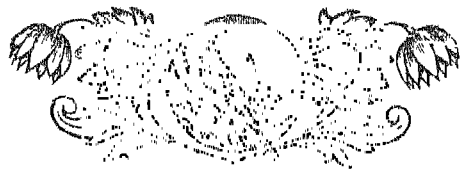

(११)

आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव

आचार्य ध्रुव की मृत्यु से मुझे वैयक्तिक रूप से बड़ा ही आघात पहुँचा है; क्योंकि मेरे वे एक अत्यन्त प्रिय मित्रों में से थे।

आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव हमारे समय के एक महान् प्राध्यापक और शिक्षा-विशारद थे। वे गुजराती कालिज में बहुत समय तक संस्कृत के प्रोफेसर रहे थे। जब गांधीजी के आमंत्रण पर उन्होंने बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय को उसके प्रो-वाइस-चांसलर के रूप में अपनी ढलती हुई जिन्दगी के अनेक वर्ष अर्पित किये, तब उन्हें इस देश के विद्वानों में एक उच्च स्थान मिला।

बड़ौदा में 'रेजीडेन्शल् यूनिवर्सिटी' कायम करने की संभावनाओं पर विचार करने के लिए भूतपूर्व महाराजा बड़ौदा ने जो "बड़ौदा यूनिवर्सिटी कमीशन" नियुक्त किया था, उसके वे सदस्य थे। उसी समय एक सहकारी के रूप में मेरे और उनके बीच जो पारस्परिक सुदृढ़ स्नेह स्थापित हुआ, वह आगे चलकर बढ़ता ही गया।

जब उन्होंने बनारस-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया, तब अहमदाबाद के सभी उच्च शिक्षा-केन्द्रों के लिए वे सजीव प्रोत्साहन रूप हो गये, और उन्हीं की सलाह एवं साहाय्य के आश्वासन पर बंबई में भारतीय विद्या-भवन की स्थापना हुई।

उनका अध्ययन गहरा था। वे बड़े ही व्युत्पन्न विद्वान् थे। संस्कृत के प्रति उनका उत्कृष्ट अनुराग था। वे देश भर में—काशी के पंडितों द्वारा भी—संस्कृत के प्राधिकारी विद्वान् माने जाते थे। संस्कृत का इतना व्यापक और गहन ज्ञान होने पर भी उनके कार्यों का क्षेत्र विस्तृत था। पूर्वी और पश्चिमी, दोनों साहित्यों का अध्ययन उनके जीवन की उत्कट अभिलाषा थी। वे अँगरेजी-साहित्य के सबसे आधुनिक ग्रन्थ से उसी प्रकार परिचित थे, जिस प्रकार कि गुजराती या संस्कृत की आधुनिकतम कृति से। वे अमेरिका की नवीनतम विचार-धारा के प्रति उतना ही जागरूक थे, जितना कि भारत के शिक्षा-केन्द्रों के नवीनतम सिद्धान्तों से।

वे एक ऐसे विचारक थे, जिन्होंने आधुनिक जीवन-संबंधी समस्याओं पर एक अद्भुत सुलझे हुए दृष्टिकोण से विचार किया था। पूर्वी और पश्चिमी साहित्य के आजीवन अध्ययन और चिन्तन के द्वारा उनके व्यक्तित्व में पूर्व और पश्चिम का समन्वित रूप झलकता था और उनमें उन आदर्शों की श्रद्धायुक्त पवित्रता थी, जिसको आर्यसंस्कृति ने संस्कृत में इतने सुचारु रूप में उपनिबद्ध किया है।

आनन्दशंकर ध्रुव आधुनिक गुजराती-गद्य के प्रणेताओं में

से थे। 'सुदर्शन' और 'वसन्त' नाम के जिन दो पत्रों का उन्होंने अनेक वर्ष सम्पादन किया था, उन्होंने दो पीढ़ियों से अधिक काल तक गुजरात के साहित्यिक विकास पर लाभदायक नियंत्रण रक्खा। आधुनिक गुजराती-गद्य के विकास में, उनके विशद शब्दकोष, उनकी स्पष्ट विचार-धारा और वाक्य-विन्यास की गंभीरता का कुछ कम महत्त्व नहीं है। उनकी शैली आज भी हमारी भाषा को प्राप्त होनेवाली सन्तुलित शुद्धता और गंभीरता का मापदण्ड है।

नड़ियाद की गुजराती-साहित्य-परिषद् के सभापति वे उस समय हुए थे, जब कि उनके स्थिर संरक्षण के बिना वह संस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती। उस अवसर पर सभापति के पद से जो व्याख्यान उन्होंने दिया था, वह आधुनिक गुजराती-साहित्य का समुज्ज्वल सार है।

आचार्य ध्रुव एक अद्भुत साथी थे। हास्य का उनकी भावना बड़ा उत्कृष्ट थी और वे हँसी-मजाक का आनन्द लेते थे, चाहे वह उन्हीं पर किया गया हो। जीवन की मूर्खता को वे देखते—और उस पर हँसते भी थे, किन्तु बिना द्वेष या घृणा के। एक मित्र की हैसियत से वे विश्वस्त, सहृदय और प्रोत्साहक थे।

यद्यपि हम लोगों की उम्र में असमानता थी, और हममें दूसरी तरह की भी विभिन्नताएँ थीं, तथापि हम लोगों का दृष्टिकोण तथा ध्येय समान था। विचारधारा, उनमें गंगा की गौरवयुक्त और अविच्छिन्न शान्ति के साथ प्रवाहित होती थी, और मुझमें कारवीरी झरने की उथला शीघ्रता के साथ—

परन्तु दोनों का स्रोतजल आर्य-संस्कृति के अपरिवर्त्तनशील उच्चशिखर से संगृहीत था। इसीलिए मैंने अपना उपन्यास "भगवान् कौटिल्य" उनको समर्पित किया था। ये वह कौटिल्य थे, जो भारतीय ऐक्य के प्रथम निर्माता थे और जिन्होंने २४०० वर्ष पूर्व हमारी संस्कृति को एक भौगोलिक और राजनीतिक ऐक्य प्रदान किया था।

आचार्य ध्रुव की साहित्यिक और पाण्डित्यपूर्ण साधनाएँ उनके व्यक्तित्व और जीवन से कदापि पृथक् नहीं हैं। यदि उनकी शैली सन्तुलित थी, तो उनका जीवन प्राचीनता और नवीनता का पूर्ण सामञ्जस्य था; वह प्राचीन आदर्शों का वर्त्तमान समय की सबसे प्रगतिशील आवश्यकताओं के अनुरूप सन्तुलन का वैचित्र्य था। व्यक्तिगत रूप से यदि वे कट्टर ब्राह्मण थे, तो वर्त्तमान समस्याओं पर उदार दृष्टिकोण रखते थे, एवं उनके सुलझाने के ढंगों के उचित रूप से प्रशंसक थे। उनकी गहन अध्ययनशीलता उनके सेवामय जीवन से सुसम्बद्ध थी और उनके भावात्मक विचारों ने मित्रों के प्रति प्रेम और सच्ची भक्ति में कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाई। उन्होंने अपने आदर्शों के अनुकूल ही जीवन-यापन करने का प्रयास किया, और वे उस हद तक सफल हुए, जिस हद तक कुछ ही लोग हो पाते हैं।

यदि जीवन की पवित्रता और उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए वासनाओं का दमन ब्राह्मण का लक्षण है; यदि साहित्य और गंभीर चिन्तन में लगा हुआ जीवन एवं उसकी यथार्थ समस्याओं के विश्लेषण के लिए प्राचीन ज्ञान के अर्जन

का अनवरत प्रयत्न ब्राह्मण का चिह्न है, यदि प्राचीन और अर्वाचीन समय के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों की समन्वयात्मक सतत चेष्टा ब्राह्मण की विशेषता है; यदि अपने कार्य-कलाप, अपने स्वभाव एवं भावनाओं के समन्वय के लिए एक व्यापक सर्वतोमुख दृष्टिकोण की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ब्राह्मणत्व का प्रतीक है; यदि प्राचीन भारत के प्रति उत्कट अनुराग, भारतीय शास्त्र और साहित्य के ज्ञान के लिए सच्चा प्रयत्न तथा अपने सम-सामयिक व्यक्तियों के लाभार्थ भारतीय संस्कृति के रहस्यों को हृदयंगम करने की तीव्र आकांक्षा ब्राह्मणत्व की सूचक है, तो आनन्दशंकर भी यथार्थरूप में ब्राह्मण थे—गुजरात में अवतीर्ण होनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों में संभवतः अन्तिम।

उनकी मृत्यु, मेरे लिए बहुत बड़ा हानि बनी रही है। जब वे बंबई में अन्तिम बार सख्त बीमार हुए तब मैं सकुटुम्ब उन्हें देखने गया था। मुझे लगभग यह आभास सा हुआ कि हम लोग अब फिर उनसे नहीं मिलेंगे। जब हम उनसे बिदा हुए तो मैंने अपने बच्चों से कह ही तो दिया—"बच्चो! इन्हें प्रणाम कर लो; क्योंकि गुजरात के विद्वान् ब्राह्मणों में ये अन्तिम व्यक्ति हैं!"

(ता० १२ अप्रैल, सन् १९४२ ई० को डॉक्टर ए० बी० ध्रुव की मृत्यु की सार्वजनिक शोकसभा में सभापति की हैसियत से दिया गया भाषण)

---

(१२)

भूलाभाई देसाई

भूलाभाई देसाई की मृत्यु ने भारत के राष्ट्रीय संसार से एक प्रमुख व्यक्ति को और निस्सन्देह भारतीय वकील समुदाय से एक अत्यधिक प्रतिभाशाली वकील को छीन लिया।

उनके साथ मेरा सम्पर्क सन् १९१३ ई० के जून महीने में आरम्भ हुआ था, जब कि एक नये भर्ती हुए वकील के रूप में मैंने उनके साथ काम करने के लिए उनके कार्यागारों (Chambars) से सम्बन्ध जोड़ा। वे तब ऐसे वकील थे, जिनकी वकीलों के समुदाय में सबसे अधिक माँग थी। सात वर्ष तक मैंने वकालत के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को सीखते हुए उनके साथ काम किया। कुछ वर्षों तक मेरा उनसे इतना घनिष्ठ व्यावसायिक सम्बन्ध रहा कि दिन-प्रति-दिन मुझे उनके क्रियाशील एवं सूक्ष्म मस्तिष्क को काम करते हुए देखने का अधिकार प्राप्त हुआ।

उन दिनों में भूलाभाई की शक्ति, आश्चर्यजनक अद्भुत स्मृति (याददाश्त) में किसी भी दैहिक अथवा मानसिक

श्रम को बरदाश्त कर सकनेवाले शारीरिक गठन में, और किसी भी तथ्य तथा कानून की गहनता में प्रवेश कर सकने-वाली सूक्ष्म दृष्टि में निहित थी। उनकी वकालत कानूनी उसूलों के ज्ञान पर अधिक और नजीरों के बल पर कम चलती थी। उनके भाषण में कुछ वाक्-प्रपंच रहता ही था और पुनरुक्ति भी रहती थी; परन्तु उन दिनों उनकी सुमधुर हृदयग्राहिता ने प्रत्येक न्यायाधीश के हृदय में घर कर लिया था।

प्रायः रात में घंटों तक हम लोग बैठते थे—मैं उनके द्वारा बहस के लिए तैयार की हुई संक्षिप्त टिप्पणियों के ऊपर अपनी विस्तृत विवेचना लेकर और वे मेरे सामने सोफे पर पान चबाते हुए। यह देखने का मुझे विशेष अधिकार प्राप्त था कि उनके द्वारा किस प्रकार मेरे दिये हुए तथ्यों का विश्लेषण होता था, उनका भीतरी तात्पर्य प्रकट किया जाता था, उन्हें फिर क्रमबद्ध किया जाता था; किस प्रकार विपक्षी के तर्क पहले पुष्ट किये जाते थे और तब एक-एक करके उनका खण्डन किया जाता था, जब तक कि अन्त में वे एक ऐसा मार्ग नहीं निकाल लेते थे, जो उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर प्रायः अकाट्य प्रतीत होता था।

उन दिनों वे वकीलों के प्रिय पात्र थे। सन् १९२२ ई० के पश्चात् उनकी वकालत में एक परिवर्तन हुआ। उन्होंने जिस अपूर्व सफलता को प्राप्त किया, उसने उन्हें महान् आत्मविश्वास प्रदान किया और उनकी वकालत ने तेजी पकड़ी और उनकी जिरह ने विपक्षी को उखाड़नेवाला

प्रभाव प्रकट किया। एक आश्चर्यजनक स्मृति की शक्ति से युक्त वे बिरले ही अवसरों पर टिप्पणी लिखते थे और बहुत से निर्णय के प्रमाणों को देखने से इन्कार करते थे, अपितु अपना मुकदमा मूल सिद्धान्तों पर ही आधारित करते थे।

मैं उन दिनों कई आवश्यक अदालती मामलों में भूलाभाई का 'जूनियर' था। उनके विषय में अत्यन्त अपूर्व बात थी उनके व्यक्तित्व की द्विविधता। मशविरा करते समय जब वे अपने मुकदमे का परीक्षण करते थे, तो अपने पक्ष की निर्बल बातों पर और विपक्ष की पुष्ट बातों पर भी ध्यान देते थे; किन्तु जब वास्तव में मुकदमे का कार्य-संचालन करते थे, तब वे अपने पक्ष के अतिरिक्त दूसरे पक्ष को नहीं देखते थे।

यह उनका सौभाग्य था कि उनके शिष्यों में बम्बई के वकील-समुदाय के कुछ अत्यन्त विख्यात वकील भी थे। उदाहरणार्थ श्रीमोतीलाल सीतलवाड, श्री एम्० वी० देसाई (अब जस्टिस), श्री एन्० एच्० भगवती, श्री जी० एन्० जोशी तथा कई अन्य सज्जन।

जब वे होमरूल लीग के उप-सभापति हुए तो राजनीति की ओर मुड़े; किन्तु थोड़े समय बाद जिस कमेटी के श्री जिन्ना सभापति थे और (यदि मैं गल्ती पर नहीं हूँ तो) मैं सेक्रेटरी था, उस कमेटी के सदस्यों से मतभेद होने के कारण उन्होंने उससे पद त्याग कर दिया।

वह राजनीति, जिसे लोग महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक साँचे में ढाल रहे थे, मुश्किल से ऐसा क्षेत्र था, जिसके लिए भूलाभाई प्रधान रूप से उपयुक्त हों। किन्तु बारदोली-

सत्याग्रह की जाँच के समय जब सरदार पटेल को किसानों का मामला प्रस्तुत करने के लिए एक वकील की आवश्यकता हुई तो भूलाभाई की सहायता माँगी गई और वह मिल भी गई। एक बार बारदोली में वे गांधीजी की आकर्षक मण्डली में आये और उससे उनकी कांग्रेस में अवस्थिति केवल समय-सापेक्ष रह गई।

भूलाभाई सदा भाग्य के धनी थे। किसी मामले को प्रस्तुत करने की उनकी अद्भुत चतुराई ने उन्हें महात्मा गांधी और कांग्रेस हाई कमांड के लिए मानो एक अमूल्य निधि बना दिया। जितना समय अन्य लोगों को कांग्रेस में स्वीकृत किये जाने में लगता है, उससे बहुत कम समय में वे वर्किंग कमेटी में ले लिये गये। सन् १९३४ ई० में जब हम दिल्ली में डॉ० अन्सारी के घर पर जनता के जीवन की, उस भाग्यहीन दशा से जिसमें वह डूबी हुई थी, रक्षा करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए मिले तो हमने उन्हें स्वराज्य पार्टी का सभापति चुना। गांधीजी संसद-सम्बन्धी चहल-पहल को पुनः प्रारम्भ करने के विचार के पक्ष में थे। उस समय अपने एक पत्र में गांधीजी ने मुझको लिखा कि मैं भूलाभाई को संसद-सम्बन्धी पक्ष के भार को धारण करने में समर्थ देखता हूँ, जिसको उन्होंने केन्द्रीय धारासभा में विरोधी दल के नेता होते हुए निभाया। उनके प्रतिभापूर्ण विषय-प्रतिपादन तथा चातुर्यपूर्ण नेतृत्व ने उनको एक महान् संसदीय व्यक्ति बना दिया। उनको न तो पं० मोतीलाल नेहरू का-सा मनुष्य जाति के स्वभाव का अद्भुत आन्तरिक ज्ञान ही था,

और न वे अपने समक्ष उपस्थित की गई समस्याओं के विस्तार में प्रवेश करने की ओर ही प्रवृत्त होते थे । किन्तु उन्होंने केन्द्रीय धारासभा को राष्ट्रीय मामले के प्रतिपादन का प्रथम श्रेणी का मंच बना दिया ।

बड़ी ही विचित्र बात है कि मैं 'होमरूल लीग' में उस समय सम्मिलित हुआ, जब कि भूलाभाई नागपुर-अधिवेशन के पश्चात्, श्रीजिन्ना के साथ, त्यागपत्र देकर कांग्रेस को छोड़ चुके थे । बारदोली-सत्याग्रह के समय बारदोली-जाँच-कमेटी के सभापति के रूप में मैं भी गांधीजी के मंडल में लाया गया, और मैं कांग्रेस में भूलाभाई से कुछ पहले पुनः सम्मिलित हुआ । उस परिस्थिति के अनुसार हम लोगों के जीवन अटूट बन्धनों से बँधे हुए थे । डा० अन्सारी के घर पर संसद-सम्बन्धी कार्य के प्रति उनकी अनभिरुचि को हटाने का कार्य मुझे सौंपा गया । एक रात जब हम उस समस्या पर विचार करने के लिए देर तक बैठे, तो उन्होंने कहा कि मैं धारासभा में अपने साथ तुम्हारे रहने की आशा करता था । परन्तु सन् १९३४ ई० में बम्बई के मतदाताओं ने यह निर्णय किया कि मुझे इस अधिकार से वंचित रक्खा जाय ।

सन् १९४० ई० में व्यक्तिगत सत्याग्रह के पश्चात् हम लोग एक साथ सरदार पटेल, मुख्य मंत्री खेर तथा अन्य कई मित्रों के साथ जेल में रहे । वहीं पर मैंने देखा कि गांधीजी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क होते हुए भी भूलाभाई स्वभाव से वकील की अपेक्षा राजनीतिज्ञ कम थे । सम्पूर्ण गांधीवाद का विषय उनके लिए, उनके उसके मध्य में होते हुए भी, ऐसा था

जिसको वे समझ न सके। जेल-जीवन के बार-बार आवर्तन, आत्म-संयम के श्रम तथा निर्माण-कार्य की माँगों ने एक ऐसे मस्तिष्क को, जो वास्तव में पाश्चात्य प्रभाव युक्त था, उत्तेजित कर दिया था और इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा।

जब गहरी बीमारी के बाद वे जेल से बाहर आये, तो उनकी दिमाग़ी ताकत ने कुछ समय तक उनका साथ छोड़ दिया, किन्तु उनकी अपूर्व शारीरिक रचना ने उनकी रक्षा की। वे वकालत के पेशे में लौट आये। जब वे कोयलेवाले मुकदमे में मुझे कानपुर ले गये, तो मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि उनकी दक्षता, चातुर्य तथा जिरह करने की शक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति पर वापस आ गई थी। उनका स्वास्थ्य पुष्ट होते हुए भी, उनका हृदय उनसे चालें खेल रहा था। उस समय वे 'देसाई-लियाकत-वार्त्ता' चला रहे थे और उन्हें कुछ ही दिनों में राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की बड़ी आशाएँ थीं।

आज जो घटना हो रही है उसके प्रकाश में देसाई-लियाकत-समझौते की वार्ताएँ असाधारण रूप से भले ही निःसत्व प्रतीत हों, किन्तु जब भूलाभाई ने वार्ता आरम्भ की थी उस समय देश पूर्ण निराशा की भावना से ग्रस्त था। आचार-भ्रष्टता फैली हुई थी। परिस्थिति को सँभालने के लिए कुछ करना था और भूलाभाई ने गलत समझे जाने की शंका होते हुए भी, पहला कदम उठाया।

शिमला-कान्फ्रेन्स में जो घटना हुई वह हाल ही की ऐतिहासिक घटना है; किन्तु केन्द्रीय सरकार के लिए निर्दिष्ट

व्यक्तियों की कांग्रेस की सूची में अपना नाम न होने से भूलाभाई को बड़ा आघात पहुँचा। उनका नाम छोड़ दिये जाने के विषय में एक अज्ञानपूर्ण आलोचना की बाढ़ सी आई। शायद भूलाभाई से अधिक चतुर व्यक्ति इसका अनुमान पहले ही कर लेता। गांधीजी से घनिष्ठ सम्पर्क होते हुए भी महात्मा गांधी की शक्ति, सामर्थ्य, श्रेष्ठ नीतिज्ञता और नैतिक ऐश्वर्य को वे न आँक सके थे। इसमें भूलाभाई का दोष न था। वे उस प्रकार बनाये ही नहीं गये थे।

उन्होंने जीवन में उस पाश्चात्य मानसिक स्थिति को कायम रक्खा, जो इस शताब्दी के प्रथम दस वर्षों में पढ़े-लिखे लोगों में प्रचलित थी। सेवाग्राम से उनका घनिष्ठ सम्पर्क भी उसे बदल न सका।

किन्तु, जैसा मैंने कहा, भूलाभाई भाग्य के धनी व्यक्ति थे। वे आजाद हिन्द सेना के बचाव के लिए बुलाये गये। किसी ने स्वप्न में भी न सोचा था कि ब्रिटिश सरकार इतनी मूर्ख होगी कि अनजान भारतीयों के सम्मुख आजाद हिन्द सेना के वीरतापूर्ण कृत्यों का चित्ररूप कथानक प्रस्तुत करेगी। भूलाभाई इस मुकदमे में वकालती चतुरता और वक्तृत्व-शक्ति के उच्चतम स्तर पर पहुँच गये।

अपने उत्कर्ष पर पहुँचते हुए नाटक की भाँति इसका अन्तिम अंक, जिसमें कि यह नायक प्रकट हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशमय भूमिका में खेला गया, जब कि राष्ट्रीय वीरों के सनसनीदार मुकदमे में विद्रोह का अधिकार प्रमाणित करना था। इस अंक में भूलाभाई के चातुर्य-पूर्ण अभिनय ने,

जिसका पर्यवसान अभियुक्तों के बिना किसी शर्त के छुटकारे में हुआ, एक राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की, जिसके वे केन्द्र-बिन्दु थे। बम्बई नगर सचमुच कई दिनों तक उन्हें घेरे रहा।

प्रायः अनुद्बुद्ध रूप में भूलाभाई ने यह अनुभव किया कि उनका जीवन-नाटक समाप्त है। फेफड़ों में पुनः शक्ति लाने के लिए ओषजन गैस लेने के पश्चात् ही उन्होंने कुछ दिन आजाद हिन्द सेना के मुकदमे की पैरवी की। वे बम्बई में गिरते हुए स्वास्थ्य की दशा में भी अपनी शक्ति को बढ़ावा देकर दावतों में, प्रीतिभोजों में और बधाई देने के निमित्त आयोजित सभाओं में उपस्थित हुए।

मृत्यु-शय्या पर लेटने के पूर्व उनके जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य बम्बई के वकील-समुदाय द्वारा आयोजित अन्तिम प्रीतिभोज था, जिसमें वे एक सम्मानित अतिथि थे। उनकी प्रतिभापूर्ण वकालत ने ताजमहल होटल के भोज में असाधारण संख्या में वकीलों को आकृष्ट किया था। यह एक शानदार उत्सव था और सारी आँखें उन पर लगी थीं।

वे डगमगाते हुए भोज में आये। उनके डाक्टरों ने उसमें उपस्थित न होने की उन्हें सलाह दी थी, किन्तु भूलाभाई ने कहा कि मैं मृत अवस्था में ही क्यों न लौटूँ, मगर उसमें उपस्थित हूँगा। जब भाषणों का समय आया, उन्होंने अपनी क्षीण होती हुई शक्ति का संचय किया और ४५ मिनट से ऊपर बोले। कुछ क्षण के पश्चात् उनके वाक्य उच्च स्वर में प्रकट हुए। वकील-समुदाय के, अपने प्रशंसक मित्रों की करतलध्वनि के बीच उन्होंने शासित प्रजा के विद्रोह के

अधिकार पर भाषण दिया। यही था उनका भरतवाक्य अर्थात् नाटक समाप्त होने के पूर्व का अन्तिम गान। जब उन्होंने भाषण समाप्त किया तब वे साँस लेने के लिए हाँफ रहे थे। धीरे-धीरे डगमगाते हुए वे घर पहुँचे और फिर शय्या का आश्रय लिया—मृत्यु के लिए।

उनकी मृत्यु के दो दिन पूर्व जब मैं दिल्ली जा रहा था, मैं उनके अन्तिम दर्शन के लिए गया। मैं जानता था कि जब मैं वापस आऊँगा, तब तक वे जीवित न रहेंगे।

उस झुर्रियोंवाले शरीर और अचेत मस्तिष्क के सम्मुख, मेरा मन उन विजय-पूर्ण सैकड़ों दृश्यों की ओर—जो उस शरीर द्वारा—जो कि अब इतना निर्बल था, प्रस्तुत किये गये थे और उस अशान्त महत्त्वाकांक्षा की ओर तथा उस जीवन के प्रेम और उस विश्वास को स्तंभित करनेवाली प्रतिभा की ओर गया, जो सब अब भूतकाल की चीजें थीं।

एक अपूर्व भाग्य ने वर्षों तक हमारा नाता जोड़ा था। मैं व्यवसाय में उनका शिष्य था। प्रायः उनके साथ रहता था और महीनों उनके साथ छुट्टी बिताता था। मैंने उनके चरणों में बैठकर बहुत सी बातें सीखी थीं।

व्यवसाय और राजनीति की दृष्टि से, और सबसे अधिक व्यक्तिगत रूप से हमारा घनिष्ठ सम्पर्क होते हुए भी, हम लोगों के स्वभाव में ऐसी विभिन्नता थी, जिसका समन्वय हम दोनों ने कठिन समझा। जीवन के प्रति उनकी धारणा तो पूर्णतया पाश्चात्य थी, पर मेरी धारणा तो पाश्चात्य सिद्धान्तों को कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी। उनका

शरीर पुष्ट था, जब कि मैं जीवन भर एक दुर्बल प्राणी रहा। वे योरप के जीवन तथा आनन्दों का उपभोग कर सकते थे। पर जीवन का मेरा दृष्टिकोण ऐसा था कि मैं ऐसी चीजों में आनन्द नहीं ले सकता था। वे काल्पनिक प्रयत्नों अथवा उन वस्तुओं की खोज के साथ, जो यथार्थ नहीं थीं, सहन-शील थे, और मैं उपन्यास, नाटक, नृत्य, कथाओं और शौकिया किये जानेवाले नाटक के प्रयोगों और साथ ही साथ गीता में भी अनुरक्त था।

दृष्टिकोण के इन अन्तरों ने प्रायः उनको—और उनकी दृष्टि से ठीक ही—यह अनुभव कराया कि मैं उचित प्रकार का व्यक्ति न था। किन्तु बहुधा हम लोग अपने मत, दृष्टि-कोण और स्वभाव-सम्बन्धी विरोधों को यह समझकर भूल जाते थे कि हम दोनों एक दूसरे से गहरे प्रेम के स्वर्ण-सूत्र द्वारा बँधे हैं—जो कभी निर्बल या मंद नहीं पड़ा।

कानून के क्षेत्र में वे मेरे गुरु थे और उनके निकट सम्पर्क से मैंने जो कुछ सीखा है उसके लिए मेरा हृदय सदैव कृतज्ञता से ओत-प्रोत रहा है। वे मेरे जीवन की दृढ़तम कड़ी थे, जो अब टूट गई है और जिसके बिना अपने को मैं अधिक असहाय पाता हूँ।

(सोशल वेलफ़ेयर, मई १०, सन् १९४६ ई० से उद्धृत)

(१३)

सत्यमूर्ति : एक वीर योद्धा

श्रीसत्यमूर्ति नहीं रहे । भारतीय स्वतंत्रता का एक वीर योद्धा अब नहीं है ।

जमनालालजी, महादेव देसाई, सत्यमूर्ति—तीन व्यक्ति, तीन दृढ़ देशभक्त, तीनों मेरे व्यक्तिगत मित्र—देश की जनता के जीवन तथा मेरी मित्रमंडली, दोनों में एक शून्यता छोड़ गये हैं । सत्यमूर्ति और मैंने एक दूसरे को सन् १९१७ ई० में होमरूल-आन्दोलन के अवसर पर जाना, जिसका कि नेतृत्व श्रीमती बेसेन्ट कर रही थीं । वे तब भी एक निपुण वक्ता थे—एक साहसी युवा, जो कि जिस महान् कार्य से प्रेम करते थे उसके लिए अविचल होकर संघर्ष करते थे ।

अमृतसर-कांग्रेस में कांग्रेसमंच से उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड के विरुद्ध एक भीषण निन्दापूर्ण भाषण दिया । जब सन् १९२० ई० में नागपुर-कांग्रेस से लौटने पर वे रेल में सख्त बीमार पड़े और अच्छे होने तक हमारे साथ बम्बई में रहे, तब हम लोग घनिष्ठ मित्र हो गये । तब हम दोनों जने

कांग्रेस में आनेवाले परिवर्तन के प्रति असन्तुष्ट हुए। उन्होंने उसमें रहकर अन्दर ही अन्दर लड़ने का निश्चय कर लिया था, जब कि मैंने श्रीजिना के नेतृत्व में बाहर निकलने का निश्चय किया।

राजनीति के लिए उन्होंने अपना व्यावसायिक जीवन छोड़ दिया। उन्होंने कांग्रेस-अनुशासन की अधीनता स्वीकार कर ली। तथापि अन्दर ही अन्दर वैधानिक रीति से वे अपने दृष्टिकोण के लिए लड़ते रहे। सन् १९३० ई० में मेरे कांग्रेस में पुनः सम्मिलित होने पर हमारा राजनीतिक सम्बन्ध नवीन हो गया। तब से कई अवसर आये, जब हम लोग मिले, देश की समस्याओं पर वाद-विवाद किया और जिन लोगों ने लोकोत्तर उन्नति की थी, ऐसे उत्साही व्यक्तियों की मंडली से बाहर रहने के दुर्भाग्य में हिस्सा लिया।

सन् १९३३ ई० के अन्त में स्व० रंगस्वामी आयंगर की राय से मैंने "स्वराज पार्टी" के निर्माण में दिलचस्पी ली, जो अन्त में कांग्रेस का संसद-सम्बन्धी अंग हो गई। यह सत्यमूर्ति ही थे, जो जेल से लौटने पर तन-मन से उसके कार्य में लग गये। वे संसद के कार्य में उत्तम श्रेणी के निपुण व्यक्ति थे। वे देश के संसद-संबंधी कार्यों को विद्रोहियों की मृदुतापूर्ण दया पर छोड़ने को कभी बुद्धिमानी नहीं मानते थे। यदि केन्द्रीय धारासभा में कांग्रेस का संसदीय अंग फूला-फला तो यह जितना श्रीभूलाभाई देसाई के विवेकपूर्ण पथ-प्रदर्शन के कारण था उतना ही श्रीसत्यमूर्ति की चेतना-पूर्ण शक्ति के कारण भी।

सन् १९३७ ई० के कांग्रेस-चुनाव के पूर्व जब सत्यमूर्ति बम्बई में थे, तब पद ग्रहण करने के प्रश्न पर हम लोगों में बहुत वाद-विवाद हुआ। उन्होंने अदम्य शक्ति के साथ इसका युक्ति-संगत समर्थन किया। किन्तु उस समय के अधिकांश कांग्रेस के व्यक्ति प्रकाश्य रूप में जिसको पाखण्ड समझते थे, उसका समर्थन होने के कारण उनकी हँसी हुई, उन्हें ताने दिये गये, और बुरा-भला भी कहा गया। उनको एक देदीप्यमान शब्द-कलाकार की ईश्वरी शक्ति प्राप्त थी, और पदारूढ़ कांग्रेस के व्यक्तियों का जो वर्णन वे प्रस्तुत करते थे, उसके कारण वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अत्यधिक अप्रिय लोगों में हो गये। अपनी ही तुच्छ विधि द्वारा मैंने संगठन के बड़े नेताओं को प्रभावित करने का प्रयत्न किया और मुझे याद है कि उन्हीं की राय से मैंने पद-ग्रहण के पक्ष में एक लेख-माला निकाली, जिसका स्वभावतः वही हाल हुआ, जो सत्यमूर्ति की वक्तृताओं का हुआ था। किन्तु परिवर्तन होकर ही रहा। अन्त में गांधीजी पदग्रहण के पक्ष में आये। 'वर्किंग कमेटी' ने इस परिवर्तन को स्वीकार किया और कांग्रेस ने पद-ग्रहण करना स्वीकार किया। सत्यमूर्ति निश्चय ही मद्रास में पदारूढ़ हुए होते, यदि उन्होंने राजाजी को, जिनका वे सदा बड़ा सम्मान करते थे, स्वतः अवसर न दिया होता।

व्यवस्थापिका सभाओं में सत्यमूर्ति के कार्य भली भाँति ज्ञात हैं। वे स्वभाव से ही संसदीय कार्यों में निपुण थे और केन्द्रीय धारासभा में उन्होंने अपनी पार्टी के लिए बड़ा यश प्राप्त किया था।

वे रचनात्मक कार्य करनेवाले राजनीतिज्ञ थे। वे केवल संसदीय कार्यक्षेत्र में ही विश्वास न करते थे, बल्कि शायद आदर्श या नैतिक रूप से उचित स्थिति की अपेक्षा एक नये संतुलित रचनात्मक उत्तरदायित्व को स्वीकार करने में भी उनकी निष्ठा थी। इस बात के होते भी कि कांग्रेस भिन्न प्रकार से संगठित थी, सत्यमूर्ति अल्पमत पक्ष में रहना पसन्द करते थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि बाहर रहने की अपेक्षा एक शक्तिशाली संगठन के अन्तर्गत रहने से ही उनकी शक्ति अधिक है।

सन् १९४० ई० में जब मैंने अहिंसा के मसले पर कांग्रेस से पद-त्याग किया, तब वे उन पहले के चन्द लोगों में से थे, जिन्होंने मुझे उस बात के लिए डाँटा, जिसे वे मेरी मूर्खता समझते थे। कुछ हद तक वे मेरे अहिंसा के विचारों से सहमत थे, किन्तु वे चाहते थे कि उन्हीं की भाँति, मैं भी कांग्रेस में रहकर लड़ूँ। यह मेरी अभिरुचि तो थी नहीं, किन्तु सत्यमूर्ति ने जो मुझ पर बुरी तरह डाँट लगाई, उस पर वे दृढ़ थे।

पिछले तीस वर्षों में कांग्रेस एक राजनीतिक दल की अपेक्षा एक सेना और एक सेना की अपेक्षा आत्म-बलिदान करने-वालों का समुदाय रही है। जो कोई भी इसके संग्रामों में आगे रहा है, उसे अशान्तिमय राजनीतिक क्रियाशीलता अथवा जेलयातना सहनी पड़ी है। नष्ट-प्राय शरीर, धमनियाँ निरन्तर उत्तेजित, पारिवारिक जीवन विच्छिन्न, व्यावसायिक जीवन अस्तव्यस्त—यही उन लोगों के विशेषाधिकार रहे हैं, जिन्होंने महात्मा गांधी का अनुसरण किया। और सत्यमूर्ति

ने जिस हद तक आत्म-बलिदान किया, उसमें वे किसी से भी पीछे नहीं रहे। देश ने एक सच्चा और दृढ़-प्रतिज्ञ योद्धा खो दिया है, जिसका जीवन विस्तृत त्याग का जीवन था। अपने देशवासियों के स्वतंत्रता के अधिकारों को स्थापित करने के लिए वे अन्त तक लड़े। उनमें सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि वे उच्च कोटि के साहसी थे। जिस बात को वे उचित समझते थे उसके लिए सन्नद्ध होते थे, और कोई भी योद्धा इससे अधिक नहीं कर सकता था।

(सोशल वेलफेयर, ता० २ अप्रैल, सन् १९४३ ई० से उद्धृत)

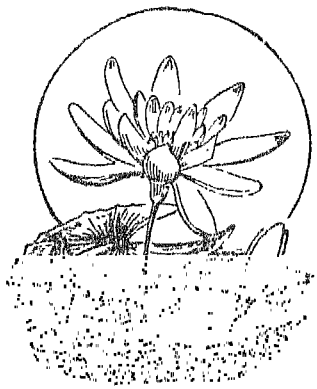

(१४)

महादेव देसाई : एक प्रशस्ति

श्रीमहादेव देसाई की अचानक और असामयिक मृत्यु ने एक शून्यता पैदा कर दी है, जिसकी पूर्ति असम्भव है। लाखों व्यक्ति उन्हें गांधीजी के सेक्रेटरी, उनके निरन्तर साथ रहनेवाले तथा उनके साप्ताहिक 'हरिजन' के सम्पादक के रूप में जानते थे। पूरे पचीस वर्ष, अपने जीवन के अन्त तक उन्होंने अपनी सम्पूर्ण भक्ति, योग्यता और आत्म-समर्पण के साथ गांधीजी की तथा उनके द्वारा राष्ट्र की सेवा की। गांधीजी द्वारा अपनाया हुआ एक भी सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्य ऐसा न था, जिसमें उन्होंने दिल-चस्पी न ली हो और उसका गहन अध्ययन न किया हो।

गहन मानवीय सहानुभूति तथा विवेक से निकली हुई अपनी जन्मजात मानवता, स्वभाव की मधुरता और आकर्षक शिष्टाचार द्वारा उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के, जो उनके सम्पर्क में आया, स्नेह और आदर को प्राप्त किया। भारत में तथा भारत के बाहर सभी वर्गों और जातियों में, और कांग्रेस के बाहर भी उनकी एक बड़ी मित्र-मंडली थी।

कांग्रेस के विचारकों में वे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। पिछले वर्षों में गांधीजी ने उनको बहुत से कठिन राजनीतिक नियोगों में लगाया, जिनमें से हर एक में उन्होंने बड़ी ख्याति के साथ कार्य किया। वे पुस्तकों के प्रेमी और अत्यन्त उत्सुक पाठक थे, और कई भाषाएँ जानते थे। उनकी दिलचस्पी अनेक विषयों के व्यापक क्षेत्र में थी।

वे अँग्रेजी ऐसी शैली में लिखते थे जो सरल, आकर्षक और ललित होती थी। वे गुजराती के एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक शैलीकारों में से थे।

उनके निधन से गांधीजी ने एक पुत्र, सेक्रेटरी तथा व्याख्याकार, उनकी पत्नी ने एक अनुरक्त पति, पुत्र ने एक स्नेहशील पिता, कांग्रेस ने एक विश्वसनीय सेवक और गुजरात तथा भारत ने अपने उत्तम पुत्रों में से एक उत्तम पुत्र खो दिया। मेरे लिए वह हानि व्यक्तिगत हानि है। वे मेरे सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय मित्रों में रहे हैं। उनकी विधवा और परिवार की हानि की पूर्ति असंभव है। किन्तु हम लोगों की हानि देश के लिए लाभ है। वे एक ऐसे व्यक्ति की भाँति अमर रहेंगे, जो भारत-माता से प्रेम करता था और जिसने उसी के लिए जीवनदान किया।

(सोशल वेल्फेयर, अगस्त २०, सन् १९४२ से उद्धृत)

(१५)

जमनालालजी

मैंने जब यह जाना कि जमनालालजी का देहान्त हो गया है, तो मुझे एक बड़ा धक्का पहुँचा। कुछ मास पूर्व जब मैं उनसे अन्तिम बार मिला था, वे उस बीमारी से अच्छे हो रहे थे, जिसने उन्हें जेल से छुटकारा दिलाया था। तब हम लोगों में से कोई नहीं जानता था कि हम लोगों के भाग्य में उनसे मिलने का यह अन्तिम अवसर है।

वे एक योग्य और सामान्य मित्रों के रूप में मुझे प्रिय थे। हमारी मित्रता १९३० ई० में, नासिक जेल में, आरम्भ हुई। वहाँ हम एक साथ रहते हुए, एक साथ पढ़ते हुए, एक साथ प्रार्थना करते हुए, प्रथम श्रेणी के क़ैदी का जीवन सामान्य रूप से व्यतीत करते थे। उनमें मनुष्यों के विश्वास को प्राप्त करने का महान् गुण था और मैं शीघ्र ही उनकी व्यक्तिगत घनिष्ठता के आकर्षक दायरे में आकृष्ट हो गया। हम लोगों ने अनेक समस्याओं पर—अपने व्यक्तिगत जीवन, देश के भविष्य, गांधीजी के व्यक्तित्व और प्रभाव, हिन्दी और

भगवद्गीता पर विचार-विनिमय किया था। तब से उनके और मेरे परिवार में भी मित्रता हो गई थी।

जमनालालजी व्यापार में प्रतिभाशाली थे। यदि वे गांधीजी के आकर्षण में न आ गये होते तो मामूली तौर से कहा जा सकता है कि वे भारत के एक प्रमुख व्यापारी होते। गांधीजी के शासन में वे रचनात्मक कार्य के व्यापारिक ब्योरे के प्रबन्धक बने। उनकी आश्चर्यजनक शक्ति चरखा-संघ, हिन्दी प्रचार और ऐसी ही अन्य कार्यों की देश-व्यापी शाखाओं के संगठन में प्रयुक्त हुई।

अनेक लोग यह नहीं जानते थे कि जमनालालजी सिर्फ संगठनकर्ता ही नहीं, एक राजनीतिज्ञ भी थे। वे राजनीतिक संगठनों का निर्माण और नियंत्रण, दोनों कर सकते थे। प्रायः अपने प्रभाव को बिना प्रकट किये ही, उन्होंने मध्य प्रान्त की जनता के जीवन पर अधिकार जमा लिया था। उन्होंने जयपुर-प्रजामंडल के कार्यों का नेतृत्व किया। कांग्रेस हाई कमांड की कार्यवाहियों में उन्होंने एक ऐसे विवेकयुक्त दृष्टिकोण का समावेश किया, जिससे सुदक्ष राजनीतिज्ञ भी आश्चर्य में पड़ गये।

संगठन करने की उनकी अपूर्व प्रतिभा से, उनके सम्पर्क में आनेवाले लोगों में अपने जीवन को नियमित बनाने की प्रवृत्ति हुई। वे होनहार व्यक्तियों को चुन लेते और उन्हें यथोचित जीवन-वृत्तियों में लगा देते थे। वे मनुष्यों को, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार, जीविका दिला देते थे। वे अपने मित्रों की सन्तानों के विवाहों की व्यवस्था भी करते थे। वे

सामाजिक उत्सवों के प्रबन्ध की कला भी जानते थे तथा अपनी मंडली के लोगों के सामाजिक जीवन की भी व्यवस्था करते थे। उनके आतिथ्य की सीमा न थी, साथ ही उनके सत्कार की विधि भी उससे बढ़कर थी। अपने द्वारा सुसज्जित बहुसंख्यक अतिथियों में से प्रत्येक को वे सुनियमित जीवन का सुख देने के साथ-साथ, अपनी रुचि का अनुसरण करने की पूरी स्वतंत्रता देते थे।

हिन्दू-शास्त्रों के वर्णन के अनुरूप ही वे यथार्थ धनाढ्य थे। उनके पास धन था, इसलिए वे उसे योग्य व्यक्तियों को दे सके एवं उसे सत्कार्य में लगा सके। सन् १९३० ई० में जब हम लोग पारस्परिक विश्वास की भूमिका पर आये थे, तब वे लाखों रुपये दान कर चुके थे। जिस किसी को सत्कार्य के लिए धन की अपेक्षा होती, वह सीधे जगनालालजी से या उनके द्वारा अन्यत्र प्राप्त कर लेता था। परन्तु वे धन लेनेवाले की असली नियत का पता लगाने में बड़े होशियार थे। 'अपात्र' को तो वे एक कौड़ी भी न देते थे; पर सुपात्र के लिए किसी वस्तु पर भी प्रतिबंध न था। उन्होंने 'अपरिग्रह' की भावना से प्रेरित होकर दान किया था।

यद्यपि उनकी वंश-परम्परा, उनकी शिक्षा-दीक्षा और प्रवृत्ति व्यापारिक थी, तथापि वे बड़े ही आदर्शवादी और गंभीर नैतिक भावनावाले पुरुष थे। जेल के जीवन की विषम परिस्थितियों में भी, जब कि हमसे श्रेष्ठ व्यक्ति भी जेल के नियमों को तोड़ने या उन पर ध्यान न देने के प्रलोभन से ग्रस्त थे, वे ही उन्हें मानने और उनकी पाबंदी कराने में

जागरूक थे। राजनीतिक मामलों के नैतिक पहलू को वे कभी न भूलते थे, जो संभवतः गांधीजी और उनके बीच एक सुदृढ़ बन्धन था।

गांधीजी के व्यक्तित्व का एक विलक्षण अंश आत्म-समर्पण है, जिसे वे उन लोगों में जाग्रत् करते हैं, जो यदि उनके संपर्क में न आते, तो 'सांसारिक' शब्द के आत्यन्तिक अर्थ में 'सांसारिक' होते। गांधीजी के प्रति जमनालालजी का आत्म-समर्पण पूर्ण एवं आत्यन्तिक था। गांधीजी के प्रति जमनालाल की जो श्रद्धा थी, उसके द्वारा कोई भी उस महापुरुष के प्रभावशाली आकर्षण को जान सकता है, जिस आकर्षण का वे सचार कर सकते थे।

मैं उन वर्षों की ठीक-ठीक संख्या नहीं जानता था, जब कि जमनालालजी जेल में रहे या जब सैकड़ों कष्टों को सहा, जो कि गांधीजी के प्रति आत्यंतिक श्रद्धा द्वारा अभिप्रेत है। उन्होंने अपनी तपश्चर्या उस नैतिकता के साथ पूरी की, जो कभी थकती न थी, और उस विश्वास के साथ जो कभी विचलित न होता था।

(फरवरी १९, सन् १९४२ ई० के सोशल वेलफेयर से उद्धृत)

(१६)

प्रोफेसर भंसाली का अनशन (१)

अड़तालीस वर्ष के, साँवले रंग के, ईसा मसीह के से बालों-वाले, विश्वास-पूर्ण नेत्रवाले, बच्चे की भाँति साधारण सादे स्वभाववाले, प्रत्येक व्यक्ति को निःशस्त्र कर देनेवाली अहिंसा की भावनावाले, भूख और श्रम को—वर्धा के ग्रीष्म के दुःसह सूर्य को तथा हिमालय की सरिताओं के जमे हुए जल को सहने में समर्थ शरीरवाले, शिलाखंड की भाँति ईश्वर में दृढ़ विश्वासवाले—यही हैं प्रोफेसर भंसाली।

ये बम्बई विश्व-विद्यालय के एम्० ए० तथा बम्बई कालेज के भूतपूर्व प्राध्यापक हैं। उन्होंने सम्पूर्ण योरप की यात्रा की। इसके बाद संसार का परित्याग कर दिया। हिमालय की ओर नंगे पैरों प्रस्थान किया। गिरि के वन में भ्रमण किया। नीम की पत्तियों पर निर्वाह किया। अपने होठों को गोलाकार बनाकर वर्षों नली द्वारा भोजन ग्रहण किया। लगातार सूत कातते रहे और बापू में विश्वास रक्खा। वे एक धार्मिक वृत्ति के पुरुष हैं, जो राजनीति को नहीं

जानते, न उसकी चिन्ता ही करते हैं। वे साधु हैं, जो मनुष्य से प्रेम करता है, किन्तु संसार से विरक्त हैं। वे एक ऐसे तपस्वी हैं, जो बच्चे की भाँति निर्दोष हैं। वे एक हठ-योगी के समान शरीरवाले देवदूत हैं। और ऐसे एक मुनि हैं, जिसकी प्रसन्नता मौन ही है।

चिमूर गाँव (मध्य-प्रदेश) में स्त्रियों के प्रति तथाकथित दुर्व्यवहार के सम्बन्ध में मध्य-प्रान्तीय सरकार की विज्ञप्ति और डा० मुंजे के बयान ने इस पुरुष को, उसके अन्तस्तल तक, विक्षुब्ध कर दिया। भारतीय स्त्रियों की मान-मर्यादा की रक्षा में उन्होंने अपने धार्मिक विश्वास का एक मुख्य तत्त्व अधिगत किया था। उस तत्त्व की पवित्रता, उनके लिए हिन्दू-संस्कृति का एक अविच्छेद्य अंश था। अतः वे नई दिल्ली में श्रीयुत अणे के पास गये और उनसे चिमूर आकर अभियोग की जाँच करने की प्रार्थना की।

जो कुछ हुआ, वह संसार जानता है। उन्हीं के कथनानुसार श्रीयुत अणे के चरणों में, उनके घर पर ही, प्राण त्याग देने की इच्छा से उन्होंने अनशन आरम्भ किया। वे गिरफ़्तार किये गये। फिर ता० ७ नवम्बर को सेवाग्राम वापस लाकर छोड़ दिये गये। पर उन्होंने इस मामले की जाँच न हो जाने तक आमरण अनशन की प्रतिज्ञा की। उन्होंने स्पष्ट कहा —"यदि स्त्रियों को, जो उस जाति की पुत्रियाँ हैं जिसने मान-हानि की अपेक्षा अग्नि-प्रवेश को अधिक श्रेयस्कर माना था, सताया गया है, और अपराधी को उचित दण्ड नहीं दिया गया ; और यदि ऐसे अनुचित

कार्यों पर बिना ध्यान दिये, बिना उनकी जाँच किये तथा बिना परिशोध के, उन्हें दबा दिया गया, तो वे जीवित नहीं रह सकते।

वे चिमूर गये और वहाँ बालाजी के मंदिर में अनशन आरम्भ किया। तब उनको तीन घंटे के अन्दर चिमूर छोड़ने की आज्ञा दी गई। बाद में वे फिर गिरफ्तार कर सेवाग्राम लाये गये और ता० १५ नवम्बर को फिर छोड़ दिये गये।

प्रोफेसर भंसाली ने चिमूर जाने का पुनः निश्चय किया। वे ता० १८ नवम्बर को पैदल ही सेवाग्राम से चल दिये। उनकी अन्तःप्रेरणा के प्रभाव से उनका वह अद्भुत शरीर कई दिनों का निर्जल व्रत होने पर भी उन्हें ९० मील ले ही तो गया। अब पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार किया और एक डोली (स्ट्रेचर) पर सेवाग्राम वापस लाई।

ता० २५ नवम्बर को प्रातःकाल वे चिमूर के लिए फिर चल पड़े। १५ दिन तक उन्होंने अन्न-जल का स्पर्श तक न किया। अब मैं उनसे मिलने वर्धा से मोटर पर चला, क्योंकि मेरा उनसे कुछ वर्षों का परिचय था और मैं उन्हें वापस लाने की चेष्टा करना चाहता था। जब मैं उनके पास पहुँचा, तब वे रास्ते के किनारे एक खेत में १२ मील की यात्रा के बाद, विश्राम कर रहे थे। उनके नेत्रों में करुणापूर्ण दयालुता थी। उनका शरीर सूख गया था। उनके उत्कट विश्वास पर मेरी आँखों में आँसू उमड़ आये। उन्होंने उस समय कहा—"मैं अपने जीवन का परित्याग इस कारण कर रहा हूँ कि ऋषियों की इस भूमि पर किसी स्त्री को मानहानि न सहनी पड़े।"

मैंने उनसे रास्ते में जल ग्रहण कर लेने का अनुरोध किया और उसे स्वीकार करके उन्होंने मुझे गौरवान्वित किया। किन्तु तब मैंने अनुभव किया कि आज के दिन विश्व में पुरुष की नैतिक दशा चाहे जो हो, स्त्री की मान-मर्यादा की रक्षा का औचित्य स्त्री के और उसके हितैषियों के द्वारा मृत्यु अपनाने की प्रवृत्ति में निहित है।

जब मैं वर्धा के मार्ग पर खड़ा था, मैंने अस्तोन्मुख सूर्य की सुनहली किरणों को भंसाली के ईसामसीह के जैसे बालों को प्रकाशित करते हुए, उनको अपनी छड़ी पर झुके हुए अपने नैतिक अधिकार को सिद्ध करने में प्रवृत्त और धीरे-धीरे अपने से दूर होते हुए, एक अकेले यात्री के समान उस यात्रा पर जाते हुए देखा, जिस पर उनके पूर्व बहुत कम लोग चले हैं।

ता० २६ नवम्बर को, नागपुर से बम्बई लौटते हुए मुझे ज्ञात हुआ कि अधिकारीवर्ग उनको चिमूर-मार्ग से वर्धा वापस ले गया। जब कि मुझे इस देश के मनुष्यों की इस प्राचीन गाथा का, जो अब भी अपने साधुओं में निवास करती है, ध्यान आया, तो मैं आँसू न रोक सका। मूक प्रार्थना द्वारा मैंने उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर को धन्यवाद दिया, जिसने प्रत्येक युग में ऐसे पुत्रों को देकर इस माता पर अपनी कृपा को प्रदर्शित किया है।

प्रोफेसर भंसाली अब भी या तो जाँच करवायें या चिमूर साथ ले जाकर श्रीयुत अणे के हृदय को पिघलायें या मर जायें। परन्तु मैं यह नहीं समझ पाता कि सरकार इस तरह के भयंकर अभियोग में श्रीयुत अणे जैसे सरकार के एक

सदस्य द्वारा, जिनकी शक्ति पर, मिस्टर चर्चिल के अनुसार, भारत में इस समय ब्रिटिश शासन टिका है, जाँच कराने के मौलिक कर्त्तव्य को अस्वीकार करने में क्यों दृढ़ है। अभागे चिमूर के लोगों ने जो भी अपराध किये हों, उनका प्रायश्चित्त उसके जनरलों के द्वारा किया जा रहा है। इस मामले में अनेक लोग गिरफ्तार किये गये, और उन पर मुकदमा चलाया गया। नागपुर हाई कोर्ट के न्यायाधीश सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Frederick Pollock) के निर्णय के आधार पर, उनमें से बीस लोगों को मृत्युदंड और पचीस को आजीवन देशनिकाला दिया गया। कइयों को सख्त कैद की सजा दी गई और उन पर जुर्माना भी किया गया। गाँव-वालों के खिलाफ कई मुकदमे अब भी चल रहे हैं, तथा एक बड़ी रकम सामूहिक जुर्माने की वसूल की गई है। इन लोगों की गिरफ्तारी के बाद गाँव में क्या किया गया, इसका जिक्र मैं नहीं करूँगा। अब भी चिमूर अपनी स्वस्थ दशा को नहीं प्राप्त हुआ है। उस छोटे से गाँव पर किया गया यह अत्या-चार क्या कानून और व्यवस्था का पर्याप्त—अतिशयरूप में पर्याप्त—उद्घोष नहीं है? क्या भारत, मध्य प्रान्त और बरार की सरकार से यह कहना अनधिकार चेष्टा है कि जिस स्थिति को उन्होंने अपनाया है, उस पर पुनर्विचार करें और प्रोफेसर भंसाली की प्रार्थना स्वीकार करें, जिससे सरकार की नैतिक स्थिति सुदृढ़ हो जाय?

गत चार महीनों की घटनाओं पर जितना मैं दुखी हुआ हूँ, उससे अधिक दुखी बहुत कम लोग हुए हैं। मेरा भारत

और ब्रिटेन के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों में विश्वास था और अब भी है। इस समय भारत की उन्नति को ब्रिटेन की उन्नति से अलग मैं नहीं सोच सकता। मैंने अनुभव किया है कि जब तक धुरी की शक्तियाँ (Axis) परास्त न हो जायँ, तब तक भारत में, या अन्यत्र, प्रजातन्त्र नहीं फूल-फल सकता। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ, मुझे बर्तानिया के लोगों को एवं इस देश में उनके भारतीय और अंग्रेज प्रतिनिधियों को यह बता देने का अधिकार है कि भारत में सुव्यवस्था स्थापित करने की नैतिक जिम्मेदारी की अवहेलना करके वे उन तत्त्वों का समावेश कर रहे हैं जो भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों को हानिकर होंगे और भारत को एक बृहत् आयर्लैंड के रूप में बदल देंगे। "एक दानव की शक्ति से युक्त होना तो उत्तम है, पर उसका प्रयोग दानव की तरह करने में क्रूरता है।" नैतिक दृष्टिकोण के प्रति लापरवाही करना आत्मघात के समान है।

यह मेरे जीवन में पाँचवाँ अवसर है, जब कि मैंने भारत में अंग्रेज अधिकारियों की ऐसी चित्तवृत्ति को देखा। विभाजन-आन्दोलन के दौरान में, जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड में, बारदोली-सत्याग्रह के समय में, तथा सन् १९३२-३३ के बीच में अंग्रेज अधिकारियों तथा भारतीय देशभक्तों को क्रोध से लाल होते देखा। किन्तु समय बदला और इस देश में प्रत्येक अवसर पर अंग्रेजों तथा भारतीयों ने, न केवल स्वामियों तथा नौकरों के रूप में वरन् मित्रों तथा साथियों के रूप में कार्य किया। मैं अपने अनेक ऐसे अंग्रेज मित्रों को

जानता हूँ, जो सामान्यतया भारतवासियों के और विशेषतया कांग्रेसवालों के प्रति शत्रु-भावना रखने लगे थे। मैं उन्हें कुछ ठहरने के लिए और ऐसी घटनाओं से भविष्य में संभाव्य कटुता पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता हूँ कि यदि कहीं प्रो० भंसाली का निधन एक ऐसे निमित्त से हुआ, जो प्रत्येक भारतीय के हृदय के लिए एक पवित्र वस्तु है।

प्रो० भंसाली जो कुछ भी चाहते हैं, वह एक साधारण सी चीज है, जिसे दे देने में प्रत्येक शिष्ट पुरुष को गर्व होना चाहिए, जैसे कि चिमूर में सरकारी कर्मचारियों ने कानून का ही नहीं, वरन् मानवोचित शील की सीमाओं का भी उल्लंघन किया है। इन अद्भुत पुरुष के जीवन को बचा लेने के लिए मेरी प्रत्येक व्यक्ति से प्रार्थना है। विशेष रूप से मेरा अनुनय इस देश में उपस्थित अंग्रेजों से है, जिनकी न्याय की भावना किसी डर या प्रतिकार के विचार से नष्ट नहीं होती। साथ ही मैं श्रीयुत अणे जैसे अपने भारतीय मित्रों से अनुरोध करता हूँ, जिनकी नैतिक सहायता से भारत-सरकार इन कार्यों के करने का दावा रखती है।

(सोशल वेल्फेयर, दिसम्बर ४, सन् १९४४ ई० से उद्धृत)

---

(१७)

प्रोफेसर भंसाली का अनशन (२)

तारीख १२ दिसम्बर को दोपहर में डेढ़ बजे के लगभग मैं श्रीमती अनुसूयाबाई काले, आचार्य वलूझकर और कुछ मित्रगण मोटर से वर्धा की ओर चले। मध्यप्रदेश तथा बरार के गवर्नर माननीय सर हेनरी ट्वाइनम ((Sir Henry Twynam) द्वारा स्वीकृत समझौते की शर्तों को, प्रोफेसर भंसाली—जो सेवाग्राम के बाबाजी के नाम से प्रसिद्ध थे—के पास उनकी स्वीकृति के लिए हम लोग लाये थे। जब मैं उनसे रविवार, ता० १० दिसम्बर को मिला था, तभी प्रस्तावों की साधारण रूपरेखाओं की स्वीकृति उन्होंने दे दी थी।

यह केवल सौभाग्य से हुआ कि ता० ८ दिसम्बर को अपने वकालती पेशे के काम से मुझे नागपुर जाना पड़ा। यह भी भाग्य ही था कि श्रीमती काले की दिलचस्पी के कारण डा० खरे वर्धा गये थे और उसी दिन प्रोफेसर भंसाली के अनशन से विशेष रूप से प्रभावित होकर वापस आये थे। उसी प्रकार भाग्यवश, इस खास मामले को हल करने के लिए माननीय गवर्नर महोदय भी अनिच्छुक न थे।

हम लोग जमनालालजी की अतिथिशाला में गये । मैं तुरन्त वहाँ पहुँचा, जहाँ प्रोफेसर भंसाली लेटे हुए थे। श्री-कमलनयन बजाज और उनकी माता श्रीमती जानकी देवी, श्रीजमनालालजी से प्राप्त सेवा की उच्च परम्पराओं के अनुसार, उन्हें स्नेहपूर्ण सद्भावना के साथ घेरे हुए थीं।

पिछले तीन महीनों में ही, जब से कि मैं प्रोफेसर भंसाली के सम्पर्क में आया, मुझमें उनके लिए अनुराग उत्पन्न हो गया था। यह एक बड़े मनोरञ्जन की बात है—तथापि जो है सो है ही—कि यह वह अनुराग नहीं था, जो कि किसी मित्र के प्रति होता है, वरन् यह एक प्रकार का वात्सल्य था, जो माता के हृदय में अपने बच्चे के लिए होता है। यद्यपि वे चालीस वर्ष से कुछ ऊपर थे और उनकी इच्छा-शक्ति बड़ी दृढ़ थी, तब भी अनेक प्रकार से उनमें बच्चे की भाँति निर्दोषता एवं भोलापन था। यदि मैं उन्हें उठा पाता तो अपने हाथों में उठा लेता।

यह उनके अनशन का ६३ वाँ दिन था। वे लेटे थे। चादर से ढका हुआ उनका पूरा शरीर अस्थि-पंजरमात्र रह गया था। उनका मुख आनन्दपूर्ण स्मित से विकसित था और उनके हाथ स्वागतार्थ फैले हुए थे। मैंने उन्हें उन समझौते की शर्तों के विषय में बताया। उनका मस्तिष्क स्फटिक मणि की नाईं स्वच्छ था—मानो उनके जीवन की समग्र प्राण-शक्ति उनके मस्तिष्क की ओर प्रवाहित हो गई थी।

उन्होंने अपने तथा डा० खरे के बीच हुए पत्र-व्यवहार के प्रत्येक शब्द की विवेचना की, जो अब जनता के समक्ष है।

उन्होंने हर शब्द की आलोचना तीन दृष्टिकोणों से की, प्रथम—जो प्रतिज्ञा उन्होंने की है क्या वह पूरी हुई ; द्वितीय—उनके कार्य से क्या बापू की प्रतिष्ठा को धक्का लग सकता था ; तृतीय—चिमूर में हो चुके अत्याचारों की पुनरावृत्ति क्या थोड़ी बहुत भी रोकी जायगी।

प्रोफेसर भंसाली विनम्र व्यक्ति हैं। प्रारम्भ से ही उन्होंने अपनी माँग यथोचित रूप से पेश की। वे चिमूर के अत्याचारों की सार्वजनिक जाँच चाहते थे। पर यदि माननीय अणे वहाँ आकर उनके साथ ही वहाँ की दुःखद कहानी—जिसे वहाँ की स्त्रियाँ बताने को तैयार थीं—सुन लेते, तो उनको पूरा सन्तोष हो जाता। उनके विचार से उनकी प्रतिज्ञा का यह अंश बहुत जरूरी था। इससे वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि विदेशी शासन के होते हुए भी प्रत्येक पीड़ित भारतीय का यह अधिकार है कि अपनी दुःखपूर्ण कहानी अपने नेताओं को सुनाये ; साथ ही यह भी वे साबित करना चाहते थे कि जनता को, अपने सुपरीक्षित योग्यतावाले नेताओं को अत्याचार-पीड़ितों की बात सुनाने के अधिकार से वंचित करने में, विदेशी शासन की एक निकृष्टतम विशेषता अपनी जड़ें जमा रही थी। इस कारण डा० खरे ने उन्हें जो यह आश्वासन दिया कि माननीय श्रीअणे उनके साथ चिमूर जायँगे, इससे प्रोफेसर भंसाली बहुत कुछ सन्तुष्ट हुए।

इस समय यह एक छोटी सी बात दिखाई पड़ती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि भारत में अँग्रेजी शासन-प्रणाली के अन्तर्गत जनता का एक नेता—श्रीअणे—जो

चिमूर के निकटवर्ती गाँव का है, और अब भारत-सरकार का एक अंग है तथा जिसके प्रति सद्भावना की कमी का आरोप लगाया ही नहीं जा सकता, अपने ही लोगों के पास न जा सका और गोरे प्रभुओं की आज्ञावश—उनके प्रति समवेदना भी न प्रकट कर सका। यह प्रतिबंध अब हटा लिया गया था, अतः इस बात में तो जीत हो ही गई थी।

दूसरी बात पर—निस्सन्देह—समझौता केवल इसलिए हुआ कि मध्य-प्रदेश और बरार के माननीय गवर्नर महोदय ने—और इसमें मुझे जरा भी शक नहीं कि वायसराय महोदय की सलाह से—हस्तक्षेप किया। यह बात दया के अनुरोध से तो नहीं हुई थी, वरन् इस बात की स्पष्ट स्वीकारोक्ति के रूप में हुई कि यह एक उपयुक्त अवसर था, जब कि जनता का क्रोध, जो कि चिमूर की दुर्घटनाओं के कारण उद्दीप्त हो चुका था, पश्चात्ताप के संकेत द्वारा—चाहे वह कितना ही विलंब से क्यों न हो—संभवतः शान्त हो जाय।

उस समय जो दो सरकारी विज्ञप्तियाँ जारी की गईं, उनमें मध्य-प्रान्त की सरकार ने—उस क्रोधावेश में, जिसमें बर्त्तानिया की सरकार ने ता० ९ अगस्त, सन् १९४२ ई० से अपने को डाल दिया था, ऐसी बातें कही थीं, जो दायित्वपूर्ण राजलेख में नहीं आनी चाहिए। सरकार उन लोगों से घृणा करती थी, जो न्याय के लिए उसके पास जाते थे। सरकार ने चिमूर की स्त्रियों पर यह भी आरोप लगाया था कि उन्होंने अपने ऊपर बलात्कार किये जाने की कथा को गढ़ा है।

इस समय सुलझी हुई मनोवृत्ति सरकार के दिमाग़ में फिर से आई। वह यह कहकर कुछ परिशोध करने को तैयार थी कि चिमूर की स्त्रियों पर आम तौर पर कोई आरोप लगाने का उसका इरादा न था। उसने इस बात पर भी जोर दिया—यद्यपि केवल वाणी द्वारा—कि यह गत अगस्त के अन्त में कार्यरूप में किया जाना चाहिए था—अर्थात् यह कि किसी भी सभ्य सरकार के लिए यह एक स्वीकृत सिद्धान्त है कि शासन और व्यवस्था कायम करने के लिए वह कानून और नैतिक भावना, दोनों का समादर करे।

प्रोफ़ेसर भंसाली यह जानकर प्रसन्न हुए कि आखिरकार मध्यप्रान्तीय सरकार ने यह वचन दिया कि वह देखेगी कि पुलिस और सेना के हाथों में स्त्रियों की मर्यादा सुरक्षित रहे। उन्होंने अनुभव किया और मैं भी उनसे सहमत हुआ कि इस समझौते में बापू की स्वीकृति पाना यदि सम्भव होता तो वह मिल ही जाती और फिर किसी भी दशा में वे हम लोगों को दोषी न ठहराते। यह एक बड़ा नैतिक लाभ था कि इस तरह हृदय का परिवर्तन हुआ, चाहे वह कम ही क्यों न हो, पर जिसने सरकार को शान्ति और सुव्यवस्था कायम करने की विधियों में कुछ प्रतिबन्ध लगाने की ओर प्रेरित किया, और उससे हम लोग गत तीन मासों से परिचित हो रहे हैं।

तीसरी बात में भी जीत ही रही। जब प्रोफेसर भंसाली माननीय श्रीअणे महोदय के पास गये थे, उस समय खुली जाँच का कुछ लाभ भी हो सकता था। परन्तु लगभग ७५ दिन के पश्चात् वह बेकार होने की अपेक्षा अधिक असंगत

बात थी। अपराधियों को पहचानने का कार्य इस समय संभव न था। व्यक्तिगत रूप से मैं इतने विलम्ब के बाद जाँच के विरुद्ध भी था, जब कि चिमूर की बहिनों को अपने जीवन के अतिकलुषित क्षणों की भयंकरता को जीवन में दोहराने तथा एक उदासीन न्यायालय के समक्ष उनको शब्दों द्वारा पुनः प्रस्थापित करने के प्रयत्न में, मानसिक कष्ट झेलना पड़ता। उन क्षणों की लज्जास्पद घटना पर एक पर्दा डालना ही था। सरकार तथा प्रोफेसर भंसाली, दोनों ने प्रसन्नता से यही करना निश्चय किया।

तब प्रोफेसर भंसाली ने पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। पुलिस का दल, जिसने सेठ जमनालालजी के अतिथि-भवन के सम्मुख यह देखने के लिए डेरा डाल रक्खा था कि प्रोफेसर महोदय उनके निरीक्षण के अतिरिक्त न मरने पावें, तत्काल ग़ायब हो गया। भीषण दावाग्नि की भाँति यह समाचार वर्धा में फैल गया। भीड़ इकट्ठी होने लगी। उसी समय चिमूर की अनेक स्त्रियाँ आ पहुँचीं। उनमें उन लोगों की माताएँ, पुत्रियाँ तथा पत्नियाँ थीं, जिन्होंने स्वतंत्रता के उच्छृङ्खल जोश में भयंकर काण्ड कर डाले थे और जिनके ऊपर कठोर मृत्यु-दण्ड का भार आ पड़ा था। उनका व्यक्तिगत दुःख प्रोफेसर भंसाली के प्रति श्रद्धा में विस्मृत हो गया, जो उनके ही घावों को भरने के लिए मृत्यु से अपना नाता जोड़ रहे थे। प्रार्थना-गान के साथ प्रोफेसर भंसाली ने अपना अनशन तोड़ा।

मेरी छाती पर से एक भारी बोझ सा उतर गया; क्योंकि

गत तीन महीनों में प्रोफेसर महोदय ने मुझे अपना विश्वास-पात्र बनाकर सम्मानित किया था। मेरी आँखों में आँसू थे; क्योंकि उस क्षण सेठ जमनालालजी के अतिथि-गृह के बाहर के छोटे भवन के सम्मुख मैंने बापू की बलवती आत्मा को देखा—अर्थात् उस देवता की आत्मा को—जिसने पत्थरों से सन्तों को, साधारण व्यक्तियों से शहीदों को तथा मिट्टी से योद्धाओं को उत्पन्न किया था।

जब मैं उस भीड़ से हटा, तब मेरे देश-वासियों की विवशता, अंधकार कर देनेवाली मार्मिकता के साथ, मुझे फिर से प्रतीत हुई। ता० १९ अगस्त को सरकार ने एक ग़लती की थी; जनता के नेताओं ने न्याय चाहा था; पत्रों ने उसकी माँग की थी; सम्पूर्ण देश अन्तस्तल तक हिल गया था; किन्तु किया कुछ भी न गया था। प्रोफेसर भंसाली वायसराय की सभा के एक भारतीय सदस्य थे। वे अपने मित्रों से मिले थे और उनसे इस मामले में हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की थी। पर कुछ फल न हुआ और उन्होंने आमरण अनशन शुरू कर दिया। यह समाचार देश भर में फैल गया और इससे प्रत्येक हृदय विचलित हो उठा था। इसके फलस्वरूप विश्व के समस्त पत्रों ने चिमूर और भंसाली पर एक काला पर्दा डाल दिया था। भारतीय पत्रों ने इस प्रश्न को उठाया और समाचारपत्रों और कुछ प्रान्तीय सरकारों के बीच एक राजसी युद्ध सा छिड़ गया था।

प्रोफेसर भंसाली के अनशन के साठ दिनों तक किसी ने उनकी चिन्ता न की और यदि उनकी विशिष्ट शारीरिक

रचना न होती, तो बहुत पहले ही उनका अन्त हो गया होता। नौकरशाही के सम्मुख एक भयंकर भविष्य था। प्रोफेसर भंसाली की मृत्यु, सम्पूर्ण भारत में क्रोध की लहर पैदा कर देती, जो सम्भवतः ऐसे अनशनों की एक शृंखला सी प्रवृत्त कर देती। किन्तु नौकरशाही सजग हुई और प्रोफेसर भंसाली काल के गाल से बचा लिये गये—अंतिम क्षण में किये गये कर्त्तव्य-सम्बन्धी कार्य से, जिस कार्य को ऐसी घटना के एक ही दिन के पश्चात् ता० २० अगस्त सन् १९४२ ई० को कोई भी भारतीय सरकार कर देती। हमारे बन्धन की मात्रा असीम है। लार्ड कर्जन ने बर्मा में एक अँग्रेज सिपाही के एक ही अनाचार के कारण अपने वायसराय के अधिकार का प्रयोग अपराधी के प्रति किया। किन्तु हम सन् १९४३ ई० में हैं।

कुछ भी हो, मेरे विचार से चिमूर का समझौता अच्छा ही लक्षण है। इससे, इस देश के अँग्रेजों में कुछ समझदारी से काम लेने की प्रवृत्ति झलकती है। मुझे आशा है कि मैं गलती पर नहीं हूँ। गत अगस्त के मध्य में यह काम मेरे हिस्से में आया कि मैं एक प्रसिद्ध अँग्रेज मित्र का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाऊँ कि भारत में अँग्रेजी नौकरशाही और भारतीय जनता में इस प्रकार के संघर्ष क्षणिक स्थितियों के रूप हैं, जिनसे होकर भारत और बर्त्तानिया के सम्बन्ध—दोनों में समझौता होने के पूर्व—गुजरने ही चाहिए और इन स्थितियों में कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे दोनों के बीच वर्त्तमान कटुता और अधिक बढ़ जाय।

इस समय एक निरपेक्ष दृष्टिकोण आवश्यक है। प्रजातांत्रिक युद्ध तो जीतना ही है। भारत और ब्रिटेनिया को हाथ में हाथ मिलाकर, विश्व-स्वातंत्र्य-संघ की ओर बढ़ना ही है, किन्तु वह भारत आत्मसम्मानपूर्ण भारत होना चाहिए, न कि गुलामी में पड़ा हुआ भारत। उस आत्मविश्वास के फिर से आये बिना, जो कि ब्रिटेनिया तथा भारत में होना चाहिए, जो भी दिन बीतते हैं, उनसे उस लक्ष्यपूर्ति में विलम्ब ही होता है, जिसे संसार उत्सुकता से चाहता है। अतः यह चिमूर का समझौता मित्रता के पद-चिह्नों को पुनः खोजने की ओर संकेत करता है। इस दृष्टि से माननीय सर हेनरी ट्वाइनम् ने एक उचित बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया है।

बाबाजी एक निर्धन व्यक्ति हैं। सांसारिकता के परित्याग के बाद उनका सम्पूर्ण धन और साधन उनका शरीर ही है। उसके द्वारा लगभग अन्तिम श्वास तक उन्होंने संघर्ष किया है। दो महीने पहले बाबाजी एक अज्ञात व्यक्ति थे। आज उन्होंने भारतीय स्त्रियों के सम्मान की रक्षा की है। उनका नाम आनेवाली पीढ़ी में उस व्यक्ति के रूप में लिया जावेगा, जिसने अकेले ही उस सिद्धान्त की रक्षा की, जिसके विषय में उसने गत साठ दिनों में अनेक बार कहा कि एक भी स्त्री पर बलात्कार किया जाना केवल समाज के ही विरुद्ध अपराध नहीं, वरन् ईश्वर के भी विरुद्ध है। भारत सतियों का देश है। इस पवित्र भूमि में युगों से लाखों स्त्रियाँ अपने सम्मान की रक्षा के लिए जीवित रहीं और मरीं। बाबाजी अपनी ही पीढ़ी में उसके लिए प्राण-पण से लड़े और विजय प्राप्त की। (सोशल वेल्फेयर, ता० २० जनवरी, १९४३ ई० से उद्धृत)

(१८)

मेरे परिचित कुछ स्मरणीय वकील

मैं 'ला कालिज' के प्रिंसिपल तथा प्रोफेसर को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने यहाँ भाषण देने के लिए आज मुझे आमन्त्रित किया है। मुझे किसी भी व्यक्ति से संभाषण करने में डर सा लगता है, जब तक कि उसके निमित्त आकर्षक शुल्क का उत्कट प्रलोभन न हो। किन्तु इस अवसर पर मैं आप लोगों के बीच आने के लालच को न रोक सका। यह प्रलोभन केवल इस सामान्य संस्था के संबंध में अपनी प्राचीन स्मृतियों को पुनर्जाग्रत् करने के हेतु हुआ, अन्य किसी कारण से नहीं।

आज रात को मैं आप लोगों को कुछ विख्यात वकीलों के विषय में बताने जा रहा हूँ, जिनको कि मैंने जाना है और जिनके सम्पर्क की, अपने जीवन की बहुमूल्य निधियों की तरह मैंने क़द्र की है।

मेरे सर्वप्रथम संस्मरणीय वकील हमारे चाचा—मेरे पिता के बड़े भाई—थे। जब मैं छोटा बालक ही था, तभी उनका देहान्त हो गया। किन्तु गठियारोग से स्तब्ध शरीरवाले

और बिलकुल बहरे, इन महान् वयोवृद्ध व्यक्ति की मुझे स्पष्ट स्मृति है। उन्होंने कुछ धन जमा किया था। उन मुक़दमों को जीतने की उनकी ख्याति थी, जिन्हें कोई भी न जीत सकता था। प्रतिदिन प्रातःकाल वे अपने बरामदे में बैठ जाते। उनके मुवक्किल आकर उनके सामने बैठते और गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते रहते। मैंने उनको क़लम और स्याही का प्रयोग करते कभी नहीं देखा, यद्यपि मैंने उनके घर में एक दावात देखी थी, जिसमें स्याही बिलकुल न थी और एक क़लम भी, जिसकी नोक टूटी हुई थी।

यदि मैं यह बतला दूँ कि वे किस प्रकार हाईकोर्ट के वकील हो गये थे, तो आप लोग, जो परीक्षाएँ देने जा रहे हैं, शीघ्र ही हमारे समय की धाँधली को समझ लेंगे। सन् १८५२ के लगभग उन्होंने एल्फिन्स्टन इन्स्टिट्यूट में अध्ययन किया था, जो अब कालिज तथा हाईस्कूल में विभक्त हो गया है। थोड़ी अँग्रेज़ी सीखकर ही उन्होंने सोचा कि अपने परिवार की शान के मुताबिक़ उन्हें वकील होना चाहिए; क्योंकि उन ऐश्वर्यपूर्ण प्राचीन दिनों में प्रत्येक दूसरा बालिग़ मुंशी किसी-न-किसी प्रकार का वकील होने का दावा रखता था।

ये मेरे चाचा साहब एक दिन सवेरे ही बड़ौच में, अपने घर से, वकील की सनद लेने के लिए, अपने दुलकी चालवाले बछेड़े पर चढ़कर, चल पड़े। वे अपने पिता के मित्रों के यहाँ आनन्द मनाते, दावतें खाते और बीच बीच में ठहर ठहर कर आराम से सफर करके क़रीब एक महीने में बंबई पहुँचे। वे मेरे बाबा के एक मित्र—

श्रीधीरजलाल-मथुरादास—के यहाँ, जो उस समय सरकारी वकील भी थे, जाकर ठहरे। दूसरे दिन जब सरकारी वकील साहब कचहरी में उपस्थित होने के लिए पालकी पर चढ़े, तो मेरे चाचा अपने घोड़े पर उनके साथ हो लिये।

वे हाईकोर्ट आये, जहाँ मुख्य न्यायाधीश बनावटी बालों का टोप दिये और चोग़ा पहने बड़ी शान से बैठे थे। सरकारी वकील साहब हाथ जोड़कर उनके सामने और प्रार्थी (याने चाचा साहब) घबराये हुए कुछ दूरी पर खड़े हो गये। परीक्षा आरम्भ हुई। विद्वान्, मुख्य न्यायाधीश ने अँग्रेजी में प्रश्न पूछा—"ह्वाट् इज् इक्विटी आव् रिडेम्पशन्"*? सरकारी वकील ने नीचे झुककर अभिवादन किया। वे प्रार्थी की ओर मुड़े और गम्भीर स्वर से गुजराती में प्रश्न किया—"तुम्हारे विवाह की दावत में क्या क्या परोसा गया था?" कानून के इस अंग से पूर्णरूप से मेरे चाचा तैयार थे। बिना संकोच अपने विवाहोत्सव में परोसी हुई सुस्वादु और मसालेदार चीजों की बहुत लम्बी नामावली झट सुना दी। अपने होठों पर सन्तोष की मुस्कराहट के साथ धीरजलाल-मथुरादास मुख्य न्यायाधीश की ओर मुड़े, नतमस्तक हुए और आदरपूर्ण शब्दों में बोले—"श्रीमन्, यह स्वाभाविक ही है कि इनका उत्तर सही हो। पीढ़ियों से ये लोग वकील रहे हैं। क़ानून तो इनकी नस-नस में व्याप्त हो रहा है।" क्लर्क ने सनद दी। मुख्य न्यायाधीश ने उस पर अपने दस्तखत शान से घसीट दिया। मेरे चाचा ने घुटने टेककर उसे ग्रहण किया।

* छूट का क़ानून क्या है?

और विजयोल्लास के साथ बड़े गर्व से घोड़े पर चढ़कर अपने नगर में वापस आये। जब मैंने अपने चाचा के ही मुख से यह कहानी सुनी तो मुझे खेद हुआ कि इतने दिन बाद क्यों पैदा हुआ। और मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि आप सभी लोग दुखी हुए होंगे; क्योंकि वे दिन, जब कि कोई भी व्यक्ति प्रतिभोज का वर्णन करके सनद पा सकता था, बीत चुके हैं और अब वापस आने के नहीं।

सबसे पहले के परिचित वकील के पश्चात् मैं अब अपने परिचित एक परम श्रेष्ठ वकील की बात कहूँगा। बार लाइब्रेरी में वस्तुतः एक किंवदन्ती सी जॉन डंकन् इनविरेरिटी (John Duncan Inverarity) के संबंध में कही जाने लगी थी। वकीलों के अनेक वर्तमान नेताओं के पैदा होने के पहले, वे वकीलों के नेता थे। उनकी मृत्यु हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं।

इनविरेरिटी को हम मुश्किल से मनुष्य कह सकते थे वे केवल वकील अथवा ब्रिज के खिलाड़ी अथवा शेर के शिकारी थे, और 'भाइखला क्लब' के एक पुराने गंदे कमरे में रहते थे। जीवन के किसी भी क्षेत्र में इनविरेरिटी उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित हो जाते; किन्तु वे साल में छः महीने बम्बई में वकील की हैसियत से कार्य करना और शेष छः महीने में स्काटलैण्ड में जमींदार बनकर रहना ही पसन्द करते थे।

जितने भी चतुर वकील मैंने देखे थे, उन सबमें वे विलक्षण थे। उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक थी और विषय का प्रतिपादन इस चतुराई से करते थे कि जो कुछ वे कहना

चाहते थे, वही तथ्य मालूम पड़ता था। एक मुकदमे में, जिसमें कि मैं सर टामस स्ट्रांगमैन के नेतृत्व में वकील था, बहुत बुरी संभावना प्रतीत होती थी और मुकदमे की प्रत्येक बात हम लोगों के नितान्त विरुद्ध जा रही थी। दूसरे दिन मुकदमे का संचालन करने के लिए इनविरेरिटी को तय किया गया। जब वे न्यायालय में आये और तथ्यों का फिर से बयान किया, तब हम लोगों का मुकदमा शीघ्र ही साधारण मुकदमों से भी साधारणतम प्रतीत होने लगा और उनकी सभी बातें हमारे पक्ष का समर्थन करती लगने लगीं।

उनके जीवन में कानूनी पेशे के प्रति एक विशेष अभिरुचि थी। उन्हें कानूनी रिपोर्टों की पूरी जानकारी रहती थी। यह विशेषता उच्च श्रेणी के कुछ ही वकीलों में हो सकती है। इसके अतिरिक्त कानूनी सिद्धान्तों का उनका ज्ञान अभ्रान्त था। वे सदैव अपेक्षित प्रमाण को ढूँढ़ लेते थे। उनकी जिरह करने की प्रणाली में न तो फुलझड़ियोंवाली आतशबाजी थी और न कभी वे ऊँची आवाज में जोर से बोले। उनमें वह शैली नहीं थी जो जिरह में चातुर्य की द्योतक मानी जाती है; किन्तु उनकी निगाह पैनी और तह तक पहुँचनेवाली थी तथा उनके संक्षिप्त प्रश्न ऐसे उत्तर दिलाते जो विरोधी पक्ष के लिए हानिकर हों।

अन्य लोगों से इनविरेरिटी की श्रेष्ठता, उनकी मुकदमे की आश्चर्यजनक तैयारी, तथ्यों की पूरी जानकारी और साथ ही मुकदमे को जितानेवाली एक ही बात को चुनने की योग्यता के कारण थी। एक नये छोटे वकील की खोजी

हुई बातों के जोश से भरा हुआ एक दिन मैं अपने प्रमाणों को साथ लेकर उनके पास गया और कहा कि मेरे पास कम-से-कम आधे दर्जन ऐसे अच्छे तथ्य हैं, जिनके आधार पर हम मुकदमा जीत सकते हैं। उन्होंने एक अजीब ढंग से कहा—"नवयुवक ! प्रत्येक मुकदमे में दस बातें पक्ष में होती ही हैं। अपने लिए तुम उनमें से एक को पकड़ो और शेष बातों को दूसरे पक्षवालों के लिए ढूँढ़ने को छोड़ दो।"

इनविंसिबिलिटी के संस्मरण को बम्बई के उच्च न्यायालय से पृथक् करना असम्भव है। उन्होंने वकालत की बहुत-सी परम्पराएँ क़ायम की थीं। उन्होंने वकालत करना तब तक जारी रखा, जब तक कि घातक बीमारी ने न्यायालय के बरामदे में ही उन पर आक्रमण नहीं किया। और जब हम लोगों ने उनको क़ब्र में लिटाया, तब हम सबने यह अनुभव किया कि उच्च न्यायालय अब पहले जैसा न रह गया था।

दूसरे श्रेष्ठ वकील, जिनके साथ मैं वर्षों की आदरपूर्ण मैत्री का दावा रख सकता हूँ, सर चिमनलाल सीतलवाद हैं। बहुत ही छोटी भूमिका से जीवन आरम्भ करके, वे अपील के मामलों में प्रमुख लीडर, मौलिक पक्ष में श्रेष्ठ प्रतिभाशाली वकील, एक प्रसिद्ध न्यायाधीश और बम्बई-सरकार के सुयोग्य कानूनी सदस्य हो गये थे।

जितने भी वकीलों को मैंने जाना है, उनको देखते मैं कह सकता हूँ कि वास्तविक अदालती शान और वक्तृत्व शक्ति उन्हीं में थी। हाईकोर्ट के साथ गत २५ वर्षों के अपने सम्पर्क में मैंने यह देखा कि न्यायालय-सम्बन्धी उत्तम

वक्तृता का सर्वोच्च स्तर तभी दिखा, जब सर चिमनलाल ने 'सूरजमल बनाम हार्नीमैन'वाली अपील में बहस की, जो बीसवें बाम्बे लॉ रिपोर्टर के पृष्ठ १८४ पर दर्ज है। भाषा की पूर्ण शुद्धता का साहचर्य पाकर, व्यक्तित्व के सन्तुलन ने उस अद्वितीय संभाषण को प्रकट किया था।

सर चिमनलाल का गौरव इस बात में है कि वे कभी विजय पाने के लिए अनुचित रूप से झुकते नहीं और न कभी उन भद्दी तरकीबों से काम लेते हैं जिन्हें हममें से बहुत लोग प्रायः ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अपनाने में प्रवृत्त होते हैं। वे कभी उपस्थित साधारण जनता को प्रभावित करने की चेष्टा नहीं करते। और न कभी न्यायाधीशों की कमजोरी ढूँढने की तुच्छता करते हैं। वे केवल अपनी बौद्धिक प्रखरता के बल से न्यायाधीशों पर प्रभुत्व जमाते हैं। अपने से विरुद्ध पक्ष की ओर वे सदा नम्र रहते हैं और मैंने उन्हें कभी अपने से छोटे वकील से कोई अनुचित लाभ उठाते नहीं जाना, वह चाहे जितना भी अनुभवहीन क्यों न रहा हो।

मुझे कई बड़े मुकदमों में उनसे निर्देश प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनसे अधिक सच्चा, विश्वासपूर्ण और प्रोत्साहित करनेवाला बड़ा वकील मुझे नहीं मिला। किन्तु छोटे वकील की हैसियत से आपको बहुत सावधान रहना पड़ेगा; क्योंकि वे एक समाजवादी कार्यकर्त्ता के स्वप्न को यथार्थ करने पर जोर देते हैं। वे कभी सप्ताह में पाँच दिन, अथवा दिन में पाँच घंटे से अधिक काम नहीं करते। यदि आप उनसे पहले मिलकर तय किये बिना ही बहस के

लिए तैयार रहने की आशा करते हैं तो आप ग़लती पर हैं। आपको उनसे सलाह के लिए, जिसका समय प्रायः रात के दस बजे होता है, मिलना होगा, और तब मुक़दमे के सब तथ्यों को उनके सामने रखना होगा। किन्तु जब आप अपने मुक़दमे को उन्हें समझा रहे होंगे, वे उसको हृदयंगम कर लेंगे; पर उस प्रकार नहीं जैसे कि आप उन्हें समझावेंगे; किन्तु उस ढंग से जिससे कि उनका अद्भुत रूप से सुशिक्षित मस्तिष्क ग्रहण करेगा। तब वे फिर से उन बातों को दोहरावेंगे, अपनी कलम उठावेंगे, विस्तार के साथ टिप्पणियाँ तैयार करेंगे और इन टिप्पणियों के आधार पर वे आपके मुक़दमे में ऐसी बहस करेंगे, जैसी केवल वही कर सकते हैं।

प्रायः वे अपने वाक्यों को उस शुद्धता से मोड़ते हैं, जो संसार के किसी भाग के प्रमुख न्यायाधीशों के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है। उनका विस्तृत सामान्य ज्ञान, अनुभव और कानून के मूल सिद्धान्तों की समझदारी शेष बातों की पूर्ति कर देती है। उनमें अपने दृष्टिकोण के अतिरिक्त दूसरे दृष्टिकोण को असंगत सिद्ध कर देने की एक कला है।

सत्तर वर्ष के ऊपर होते हुए भी सर चिमनलाल की आत्मा युवा पुरुष की है। वे बार-लाइब्रेरी में मेज़ पर बैठकर एक सामान्य युवक के उल्लास के साथ गप्पाष्टक करते हैं। वे उस दिल्लगी में भी आनन्द लेते हैं जो उन्हीं पर की गई हो। वे इस लॉ-पुस्तकालय के प्रिय, प्रशस्त और समादृत 'गृह-देवताओं' में से हैं।

दूसरे विख्यात वकील, जिनका ज़िक्र करने की मेरी मंशा है, वे हैं सर टॉमस स्ट्रांगमैन (Sir Thomas Strangman)। एक समय वे छोटे वकीलों के वर्ग के लिए भयावह थे। शुरू-शुरू में जब मैं उनको अपने किसी मुक़दमे की आलोचना करते हुए सुनता तो मेरा दिल बूड़ने लगता था। वकालत शुरू करने के कुछ ही दिनों बाद—मेरे ख्याल से सन् १९१३ ई० के अप्रैल में—मैं सूरत में जिला जज के सामने एक चुनाव-सम्बन्धी मुक़दमे में उपस्थित होने के लिए बुलाया गया। प्रथम महत्त्वपूर्ण मुक़दमा पाने से गर्वित होकर मैं, उस सफलता का स्वप्न देखता हुआ, जिसे मैं दूसरे दिन प्राप्त करने जा रहा था, ग्रान्ट रोड स्टेशन पर रेल के एक डिब्बे में घुसा। किन्तु ज्यों ही गाड़ी चलने को हुई कि एक परिचित बुलन्द आवाज़ मेरे कानों में पड़ी—"ऐ लड़के! इस डिब्बे में सामान रख दो"—और मैंने सर टॉमस को अपने बाद-वाले डिब्बे में जाते हुए देखा। मेरा दिल बैठ गया, यश के स्वप्न विलीन हो गये और दूसरे दिन सर टॉमस का मुक़ाबला करने की चिन्ता के कारण रात में एक झपकी भी न ले सका। मैं अपने पराजय की कहानी को यह कहकर समाप्त नहीं करना चाहता कि किस प्रकार दूसरे दिन जिला जज ने उनके प्रत्येक शब्द को तथ्य के रूप में और कानूनन सही क़रार दिया, मेरे प्रत्येक शब्द को ग़लत माना और मेरे मुवक्किल की प्रार्थना मय खर्चे के खारिज की गई।

किन्तु बाद को मैंने सर टॉमस के भय का अतिक्रमण कर लिया था और उनको बिना किसी निजी उच्चता की

दुर्भावना के, एक बहुत ही खुशमिजाज व्यक्ति पाया था। यदि उनमें कोई जातीय उच्चता की भावना थी भी तो उसे उन्होंने भली भाँति छिपाये रक्खा था। किसी उलझनवाले मशविरे के अन्त में सर टॉमस के मुख से कोई मनोरञ्जक कहानी सुनना वकीलों के लिए अत्यन्त आनन्द का विषय होता था।

भारतीय क़ानून-व्यवस्था का उनको विशेष ज्ञान था। वे स्मरणशक्ति पर कभी आश्रित नहीं रहते थे और अँगरेज़ी क़ानून के साधारण सिद्धान्तों का भी आश्रय न लेते थे। आप जैसे ही उनसे अपने मुक़दमे के हालात बयान करेंगे, त्यों ही वे "सिविल कोर्ट मैनुअल" उठा लेंगे, अपेक्षित क़ानून की अपेक्षित दफ़ा ढूँढ़ लेंगे और कुछ ही मिनटों में आप अपने तथ्यों को क़ानून के अनुसार परिवर्तित रूप में पावेंगे। एक बहुत बड़े मुक़दमे में, जिसमें मैं शरीक था, जो अर्ज़ीदावा मैंने लिखा था, उसे सर टॉमस ने आपस में मशविरा करके तय कर दिया था। मैं उसे एक अच्छा मुक़दमा समझता था। मैंने उससे सम्बन्धित सभी प्रमाणों को देख रखा था और कई दिनों तक उसमें परिश्रम किया था। पाँच मिनट में, सर टॉमस ने अपना "सिविल कोर्ट मैनुअल" निकाला और सारा मुक़दमा खंडित हो गया। हम नहीं समझ पाये कि अब क्या करना चाहिए; क्योंकि एक बात उन्होंने इस तरह प्रतिपादित की थी और वह इतनी साधारण थी कि उसने हमारे मुक़दमे की जड़ ही पकड़ ली थी। सर टॉमस बाद में इँगलैंड चले गये और मेरे

मुवक्किल ने मुक़द्दमा दायर कर दिया। हमारे विरुद्ध सुविख्यात वकील लाये गये। हमने कई दिनों तक उसमें बहस की। अन्त में हमें स्वीकृति की डिग्री (Consent decree) मिली, जिससे क़रीब-क़रीब वे सभी बातें मान ली गई थीं, जिन्हें हम चाहते थे। मैं तो विद्वान् प्रतिपक्षियों के प्रत्येक वाक्य पर डरता रहा था कि कहीं वे उस बात पर न पहुँच जायँ, जिसे सर टॉमस ने खोज निकाला था। किन्तु भाग्य हमारे साथ था। यद्यपि बहस के दौरान में वे उस बात के आसपास आ जाते थे, किन्तु वे कभी उस तक न पहुँच पाये और जब तक स्वीकृति की डिग्री नहीं हुई, तब तक उस बात का, जो इतनी साधारण थी, पता न लगा।

सर दिनशा मुल्ला, जिनकी हाल में मृत्यु हुई है और जिससे हम अब भी दुखी हैं, एक दूसरे अपूर्व व्यक्ति थे। जिस समय मैं अन्धकारमय जीवन और निर्धनता की दशा के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था और जब कि वकील-समुदाय में से किसी ने मुझे सहायता न दी थी, सर दिनशा ही वे प्रथम बड़े वकील थे, जिन्होंने मेरे द्वारा तैयार किये हुए एक अर्ज़ीदावे की समुचित प्रशंसा द्वारा मेरे नष्ट-प्राय विश्वास को पुनर्जाग्रत् कर दिया था। उस दया के लिए मैं उनका सदा आभारी रहा हूँ।

वे एक वकील की अपेक्षा एक बड़े जज थे, और जज की अपेक्षा कानून में अधिक प्रवीण व्यक्ति। स्वभाव से वे मुक़द्दमे की पैरवी की अपेक्षा उसका अर्ज़ीदावा तैयार करना ज्यादा पसंद करते थे। अपनी प्रशंसा करनेवाले 'धूर्तों' तथा

'इंडियन अपीलों' के ढेर से घिरे हुए अपने कमरे में, क़ानून की जटिलताओं को कुरेदते हुए, बैठना उन्हें प्रिय था। जज के रूप में उनकी समता करनेवाले बहुत कम लोग थे; उनसे बढ़कर तो शायद ही कोई हो। व्यापार-सम्बन्धी मुक़दमों में, उनके सामने क़ानून की बारीकियों पर बहस करने में तो बड़ा आनन्द आता था।

सर दिनशा को यह एक ईश्वरीय देन प्राप्त थी कि जहाँ कहीं भी वे जाते थे, अत्यधिक जनप्रिय हो जाते थे। वकील-वर्ग द्वारा आयोजित प्रीति-भोजों पर उनके भाषण बड़ी उत्सुकता से सुने जाते थे। मुझे याद है कि किस प्रकार एक दिन अट्टहास करते हुए, उन्होंने हमको बतलाया कि वे एक महाकाव्य के रचयिता कवि भी थे और "रुस्तम और सोहराब" नाम के महाकाव्य को लिखकर उन्होंने लॉर्ड टेनिसन के पास भेजा भी था। उन्होंने यह भी बतलाया कि लॉर्ड टेनिसन ने बहुत नम्रता, किन्तु दृढ़ता के साथ उत्तर दिया था कि ठीक तो यह है कि महत्त्वाकांक्षी कवि को क़ानून से ही प्रेम करना चाहिए।

यदि उनके किये हुए ठोस कार्य पर निर्णय किया जाय तो मेरा विचार है कि सर दिनशा भारतीय क़ानून के सबसे बड़े भाष्यकार थे। उन्होंने कई विषयों पर प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें लिखीं—जैसे क़ानूनों का व्यवहार, ठेका, जायदाद का परिवर्त्तन, सामान का विक्रय, साझेदारी, स्टैम्प-सम्बन्धी क़ानून और दिवाला-सम्बन्धी क़ानून। ये ख़ास तौर पर माल की बिक्री-सम्बन्धी क़ानून तथा साझेदारी के क़ानून के

लिए जिम्मेदार थे, जो भारत में अब लागू हैं। और उनका एक अंतिम कार्य हिन्दू विधवा को जीवित साझेदारों की रजामंदी के बिना गोद लेने का अधिकार दिलाना था—चाहे वह इस प्रकार का अधिकार यथार्थतः शास्त्रसम्मत हो या न हो, किन्तु असहाय हिन्दू विधवा के दुर्भाग्य को, अन्य किसी बात की अपेक्षा, अवश्य कम करेगा।

जिन न्यायाधीशों को मैंने जाना है, उनमें बहुत से विख्यात व्यक्ति हैं। एक तो सर बेसिल स्कॉट थे, जो कठोर, गम्भीर, नियम के पाबंद तथा अल्पभाषी थे और जिनकी त्योरी वकील-समुदाय के लिए भय का विषय थी। दूसरे थे सर नार्मन मैक्लिऑड—(Sir Narman MacLeod)। इनमें किसी मुकदमे के आरंभ के ही कुछ मिनटों में वास्तविक और कठिन प्रश्न का निर्देश करने की विलक्षण युक्ति थी तथा जो मुकदमों को खारिज करके मानो उतनी ही शीघ्रता से उनका हनन करते थे, जितनी शीघ्रता से कि जूडिया का सम्राट् बच्चों की हत्या कर सकता था। ऐसा लगता है कि उन्होंने कभी इसका अनुभव नहीं किया कि वे मुकदमों का निपटारा करने के लिए नहीं, वरन् उन पर निर्णय देने के लिए हैं। उनका विश्वास था कि शीघ्रता न्याय की आत्मा है और वकालत पेशेवाले, जो उनकी इस शीघ्रता से उद्विग्न होते थे, उनको, अधिक धन कमाने का अवसर देने के लिए, धन्यवाद देते थे। इनके अतिरिक्त थे सर एम्बर्सन मार्टन (Sir Amberson Marteen)। वे एक ऐसे वकील थे, जो गवाहों के बहकावे में कभी नहीं आ सकते थे। परन्तु वे अपील

की अदालत में ठीकोठीक 'चाँसरी' (Chancery) के मुकदमे में एक बड़े 'जज' थे। उन्हें कानूनी रिपोर्टें बहुत प्रिय थीं, और विस्तृत फैसले लिखने में आनन्द आता था, जो कि उनकी हुकूमत के जमाने की कानूनी रिपोर्टों के बहुत ही मूल्यवान् अंश थे।

अपने व्यवसाय में, मुझे छोटे बड़े अनेक न्यायाधीशों से काम पड़ा है। उन सबमें सर बल्लूभाई शाह अकेले ही अपने स्वतन्त्र आधार पर स्थित हैं। वे धीमी चालवाले, सावधान रहनेवाले और न्यायप्रिय थे। जितने भी न्यायाधीशों से मैं मिला, उन सबमें वे बहुत ही न्यायानुरूप मस्तिष्कवाले थे। भड़कीली वकालत से वे घृणा करते थे। वे कभी अपना निर्णय तब तक नहीं देते थे, जब तक कि उनकी आत्मा को इस बात का पूरा निश्चय नहीं हो जाता था कि उनका निर्णय ठीक ही है। इन सारी बातों से बढ़कर तो उनकी स्वतंत्रताप्रियता की भावना थी। न तो सरकार ही, न धन-दौलत, न उनके सहयोगी, न वकील ही, उन्हें उस न्यायोचित कर्त्तव्य की गंभीर भावना से बाल भर भी विचलित कर सके, जिसके द्वारा वे कचहरी और जीवन के अन्य क्षेत्रों में अपने कार्य का सम्पादन करते थे।

मैं तुम्हें एक घटना बताऊँगा, जो उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहले हुई थी। मैं बड़ौदा-विश्वविद्यालय-कमीशन में उन दिनों काम करता था। हमारे सामने वे एक गवाह की हैसियत से उपस्थित हुए थे। राज्य के अतिथि के नाते, बड़ौदा के दीवान ने हम लोगों की दावत की। अधिक रात

बीते हम लोगों को एक 'गर्बा नृत्य'-मंडल में लाया गया। सर लल्लूभाई का बाह्य संसार से सम्पर्क बहुत संकुचित था। वे नृत्य देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। मेरी ओर गंभीरता से मुड़कर बोले—"मुंशी ! ये आश्चर्यजनक वस्तुएँ हैं। क्या बम्बई की स्त्रियाँ इस प्रकार के 'गर्बा'-नृत्य और गान कर लेती हैं ?" जैसा कि आप लोगों में से बहुतेरे जानते हैं, मैंने गुजरात में आधुनिक शौकिया काम करनेवाले कलाकारों के थियेटर के निर्माण में कुछ हिस्सा लिया था; लिहाज़ा मुझे कुछ गुस्सा आ गया। मैंने आश्चर्य से कहा—"क्या ! बम्बई के गर्बा-नृत्य इनसे कहीं अधिक अच्छे हैं।" इस पर सर लल्लूभाई भौंचक्के रह गये। मेरे जवाब से बहुत क्षुब्ध होकर फिर दोहराया—"कहीं अधिक अच्छे !" फिर चुप्पी साध गये। इसके बाद आधी रात बीते जब हम लोग मोटर पर अतिथि-भवन की ओर जा रहे थे और मैं ऊँघ सा रहा था, तब सर लल्लूभाई ने एक न्यायाधीश की गंभीरता के साथ पूछा—"किन्तु मुंशी ! क्या तुम्हें विश्वास है कि जब तुमने मुझसे कहा कि बंबई के 'गर्बा' कहीं अच्छे हैं, तो क्या तुमने समझ-बूझकर इन शब्दों का प्रयोग किया था ?" प्रिय वृद्ध लल्लूभाई शाह !—इतने बड़े प्रीतिभोज और मनोमोहक जलसे के बाद रात के एक बजे भी, प्रत्येक अंश में प्रमुख हाईकोर्ट के जज थे ! मैंने प्रत्युत्तर दिया—"निश्चय ही ! इसका मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है।" तब उन्होंने शान्ति के साथ मन्द्रध्वनि से कहा—"अरे ! यदि तुम अपने ज्ञान के आधार पर कहते हो, तब तो दूसरी बात है।"

इस घटना के कुछ दिन बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। वे महात्मा गांधी के बाद सर्वश्रेष्ठ चरित्रवाले पुरुष थे, जिन्हें जानने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

(राजकीय कालेज, बंबई में छात्रों के सम्मुख दिया हुआ सम्भाषण)

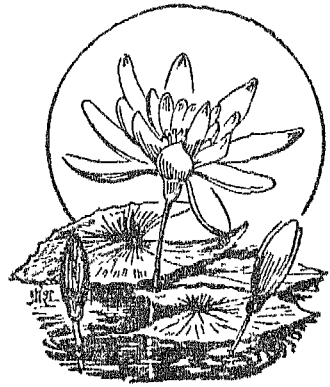

(१६)

अल्लाहबक्श

मिस्टर अल्लाहबक्श शिकारपुर की गलियों में अत्यंत दुःखद परिस्थिति में मार डाले गये। दिन-दोपहर किये गये इस कुकृत्य से सिन्ध की अप्रतिष्ठा में अभिवृद्धि हुई है।

यह तो अभी निश्चित करना है कि यह दुष्कर्म राजनीतिक दुर्भावना की प्रेरणा से किया गया अथवा व्यक्तिगत प्रतिशोध लेने की दुष्प्रवृत्ति से। मिस्टर अल्लाहबक्श, ऐसे तीसरे एम्० एल्० ए० हैं, जो सिन्ध के कई भागों में प्रवर्त्तित पाशविक वृत्तियों की भेंट हुए हैं।

कानून और अनुशासन दोनों ही—आधुनिक शब्दार्थ में—सिन्ध में तो हैं ही नहीं। हत्या की दुष्प्रवृत्ति का राजनीतिक या धार्मिक निमित्तों से खुलासा गँठबन्धन हो चुका है। फौजी कानून और पीर-पगारो की फाँसी भी इस सूबे पर कोई हितकारी प्रभाव न डाल सकी।

सिन्ध-निवासियों में इस दुर्भावना का आरोप करना भूल है। सन् १९३७ ई० के पहले उन लोगों ने आत्म-संयम की कमी का प्रदर्शन नहीं किया था। जब से नये सुधारों के

कारण राजनीतिक दलबन्दी का समावेश हुआ, तभी से ऐसा हुआ कि वैयक्तिक या अपने दल के स्वार्थ के लिए लोग इतनी सरलता से कानून को ही हथियाने लग गये। इससे तो यही सिद्ध होता है कि सिन्ध में उत्तरदायी सरकार के साथ बर्बरता के कानून को अपनाने की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो गई है।

वही पुलिस बम्बई में और वही सिन्ध में काम करती है। सिन्ध-पुलिस का इंसपेक्टर-जनरल बम्बई प्रान्त का एक उच्च पदाधिकारी है। इतना होते हुए भी सिन्ध के पुलिसदल को न तो अनुशासन का और न कार्यक्षमता का ही श्रेय प्राप्त है। इस बात के दो सम्भाव्य कारणों में से एक ही हो सकता है। राजनीति में भाग लेनेवाले लोगों के द्वारा या तो अपराधियों को रक्षा का अनुचित आवरण प्राप्त है, अथवा दलबन्दी या साम्प्रदायिक द्वेष के कारण पुलिस दूषित हो गई है। दोनों में से चाहे कोई भी कारण हो, यह स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

भारत-सरकार एक अद्भुत मशीन की तरह है। संयुक्त प्रान्त के गवर्नर ने पं० गोविन्दवल्लभ पन्त को इस्तीफ़ा देने पर विवश किया; क्योंकि डकैती के अपराधी कुछ लोगों के छुटकारे की इजाजत कानून तथा अनुशासन के अनुरोध की दृष्टि में नहीं दी जा सकती। पर अब बंगाल और सिन्ध के गवर्नर अपने-अपने मंत्रिमंडल में कोई दोष नहीं पाते—उन कार्यों के लिए, जिनके कारण राजाओं को गद्दी छोड़नी पड़ी और उच्च अधिकारी नौकरी से हटाये गये। भारत-

सरकार के लिए कानून और व्यवस्था का संरक्षण अब प्रजा की पवित्र धरोहर नहीं, वरन् एक राजनीति की चालबाजी बनकर रह गया है।

मिस्टर अल्लाहबक्श के रूप में देश ने एक कट्टर देश-भक्त मुसलमान गँवा दिया। वर्षों तक वे अकेले ही मुस्लिम लीग की शक्तियों तथा उस संस्था की प्रतिक्रियाओं से संघर्ष करते रहे। वे नाम-मात्र के अतिरिक्त यथार्थ में कांग्रेसी थे। वे आजाद-मुस्लिम कान्फ्रेंस के प्रधान व्यवस्थापक एवं सभापति थे।

सिन्ध ने अपने एक अत्यधिक प्रसिद्ध पुत्र को गँवा दिया। मुस्लिम जाति ने एक महान् शान्तिदूत को खो दिया। भारत हिन्दू-मुस्लिम-एकता के एक प्रतिनिधि से वंचित हो गया।

(मई २१, सन् १९४३ ई० के सोशल वेल्फेयर से उद्धृत)

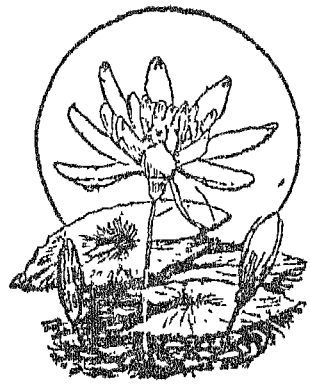

तृतीय भाग

१

जेल-डायरी का एक पृष्ठ : भय

जीवन को प्रभावित करनेवाली अनेक शक्तिशाली मनोवृत्तियों में से भय सबसे बलिष्ठ, निन्द्य और सूक्ष्म है।

भय के भाव से मन, जिसे वह अत्यावश्यक समझता है, उस वस्तु के विनाश के पूर्व ही उसे नाशोन्मुख समझने लगता है। यथार्थ में जितनी हानि होती है, उससे कहीं अधिक वह विकृत और अत्यधिक हानिकर लगती है। संभावित हानि से पहले ही मन उसके प्रभाव से उद्विग्न हो उठता है और हानि को रोकने के लिए उसमें हलचल मच जाती है।

जिन आवश्यक पदार्थों के नाश के भय से मन क्षुब्ध हो उठता है, वे साधारणतः सांसारिक प्रशंसा, धन, प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य, अनुराग और प्रेम आदि स्पृहणीय पदार्थ हैं।

चूँकि हमें सांसारिक प्रशंसा की हानि का भय सताने लगता है, अतः हम अपने आचरण को ऐसा बनाने लगते हैं, जिससे हमें प्रशंसा मिले। परन्तु यथार्थ बात तो यह है कि

प्रशंसा का मोह वस्तुतः अपने में ही आत्म-विश्वास की न्यूनता का द्योतक है।

अपने ही वर्ग के लोगों द्वारा किया गया मान-अपमान, जिसे हम संसार कहते हैं, यथार्थ निर्णय पर आधारित नहीं होता। बात यह होती है कि एक वर्ग-विशेष, चरित्र के निर्णय के लिए, कोई मापदण्ड निर्धारित करता है और इसी मापदण्ड को दृष्टि में रखकर हमारे चरित्र पर हमारे ही वर्ग के लोग दृष्टिपात करते हैं। बस, मान-अपमान इसी की प्रतिक्रिया-मात्र है।

यह चरित्र-सम्बन्धी मापदण्ड भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न होता है और समय-समय पर एक ही वर्ग में बदलता भी रहता है।

जब हम अपने चरित्र को, अपने समाज की अमान्यता के भय से, विशेष प्रकार का बनाते हैं, तब हम उसके मापदंड को स्व-निर्धारित मापदण्ड से उच्चतर मान लेते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने निर्णय को अपने समुदाय की क्षणिक मनोवृत्तियों के अधीन कर देते हैं।

अतः यदि हम अपने सिद्धांत स्वयं निर्धारित करें और उन्हीं को अपने लिए अधिक यथार्थ समझकर उन पर दृढ़ रहें, तो समाज की प्रशंसा का प्रलोभन तो दूर होगा ही, साथ ही उस प्रशंसा के खो देने का भय भी नष्ट हो जायगा।

इसके बाद दूसरी आवश्यक वस्तु, जिसकी संभावित हानि भय का कारण है, व्यापक अर्थ में, सम्पत्ति कही जा सकती

है, अर्थात् धन-दौलत, सामाजिक स्थिति, स्वास्थ्य इत्यादि। ये चीजें समुचित एवं सुनियमित प्रयत्नों द्वारा प्राप्त की जाती या बनाई रक्खी जाती हैं और जब अवसर या समय आता है, जो कि मनुष्य के वश का नहीं है, तब ये प्रयत्न फलीभूत होते हैं।

भय कष्टकर होता है और मनुष्य को घबराहट में आकर कार्य करने को प्रेरित करता है, इसलिए वह यथार्थ में कार्य-साधक और निर्धारित प्रयत्नों को भी शक्तिहीन बना देता है, एवं उपयुक्त अवसर खोजने की भावना भी नष्ट कर देता है।

यदि नियमित एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य की योजना बना ली जाय, और उसी के अनुसार कार्य किया जाय तथा कार्यकर्ता का ध्यान केवल कार्य की पूर्ति की ही ओर रहे, तो सारी सामग्री उसे स्वतः प्राप्त हो जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसा तभी होता है, जब उस पुरुष को अनुकूल अवसर मिल जाता है, अन्यथा नहीं।

स्नेह उस प्रतिक्रिया का नाम है, जो दूसरे में, उसकी आवश्यकताओं को हृदयंगम करने से उत्पन्न होती है और प्रेम किसी व्यक्ति के प्रति हमारे आत्मसमर्पण से, उसके हृदय में उत्पन्न प्रतिक्रिया-मात्र है।

स्नेह एवं प्रेम को खो देने का भय ही हमारी ज्ञान-शक्ति को क्षीण कर देता है या पूर्ण आत्मसमर्पण को क्षीण बना देता है। इस प्रकार वह उस वस्तु का आधार ही नष्ट कर देता है, जिसे खो देने का उसे आशंका है। परन्तु यदि हम

अपने आचरण का एक माप-दण्ड निर्धारित कर लें, और केवल उसी के अनुसार चतुराई से कार्यप्रणाली निर्धारित करें, एवं उचित अवसर की प्रतीक्षा करते रहें ; यदि हम उन व्यक्तियों की आवश्यकताओं को समझने का प्रयास करें, जिनका स्नेह प्राप्त करने के लिए हम उत्सुक हैं तथा जिन व्यक्तियों का प्रेम हमें अपेक्षित है उनके प्रति यदि हमारा आत्मसमर्पण अधिक पूर्ण हो, तो हमारा भय नष्ट हो जायगा। यह वही प्रशस्त मार्ग है, जिसका उन सभी व्यक्तियों ने अनुसरण किया है, जिन्होंने भय पर विजय प्राप्त की है।

इन सब बातों के अतिरिक्त, भय की भावना पर विजय प्राप्त करना केवल उन व्यक्तियों के लिए सरल रहा है, जिन्होंने ईश्वरीय इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है। (ता० १० अप्रैल, सन् १९४१ के सोशल वेलफेयर से उद्धृत)

२

नानकाना साहेब की तीर्थ-यात्रा

मैं गुरु नानक साहेब के जन्म-स्थान नानकाना साहेब गया था। यह उपनगर लाहौर से मोटर द्वारा दो घंटे की यात्रा करने पर मिलता है। ३ नवंबर (सन् १९४१ ई०) को वहाँ पर 'खालसा' लोग अपने महान् गुरु की वर्ष-गाँठ मनाने के लिए एकत्र हुए थे। सम्पूर्ण नगर सिख पुरुषों, स्त्रियों और बालकों से भर गया था। गुरुद्वारा भक्तों से ठसा-ठस भरा हुआ था।

इस गुरुद्वारे के इतिहास में एक भीषण गाथा अंकित है, जिसे सिख लोग गर्व की दृष्टि से देखते हैं। अठारह वर्ष पूर्व, इस गुरुद्वारे पर समस्त सिख जाति का अधिकार प्रमाणित करने के लिए अकालियों ने जब आन्दोलन किया, तब उस पवित्र स्थल के महन्त ने उनके प्रवेश का विरोध किया था। उसने गुरुद्वारे पर निजी अधिकार प्रकट किया था। एक दिन प्रातःकाल सौ से अधिक अकालियों ने उस पवित्र स्थान में प्रवेश किया और जहाँ ग्रन्थ साहेब का पाठ हो

रहा था, वहाँ पर बैठ गये। यह बड़ी अपूर्व वीरता का कार्य जान-बूझकर किया गया था। महन्त-पक्ष के व्यक्ति भरी बंदूकें लिये उन्हें मारने को तैयार खड़े थे। इन अहिंसक आन्दोलनकारियों पर उन बन्दूकों का वार किया गया। वहाँ की दीवारों पर आज भी इस बर्बर हत्याकाण्ड के चिह्न स्पष्ट हैं। जहाँ पर उनके शव जलाये गये थे, उस स्मारक के नीचे भूमि-गृह में मैंने उन शहीद अकालियों की अस्थियाँ और भस्म देखी। उस अमर वीरता के इन पवित्र अवशेषों को मैं देर तक देखता रहा।

सिख अल्पसंख्यक हैं। इस देश की ४० करोड़ जनता के बीच वे केवल ४६ लाख हैं; किन्तु उनका सम्प्रदाय, सुसंगठित जीवन, सरल विश्वास एवं शौर्यपूर्ण परम्परा से युक्त होने के कारण, देश के अन्य सभी समुदायों की अपेक्षा अधिक संगठित हैं।

गुरु गोविन्दसिंह ने, एक धार्मिक सम्प्रदाय से, परम्परानुगत सैनिक पंथ का निर्माण किया। वह पंथ गुरु नानक को नहीं भूला है। गुरु गोविन्दसिंह के प्रताप के आधार पर वह जीवित है। उत्तर-भारत में मुगल-साम्राज्य का विध्वंस उनका सबसे बड़ा गर्वपूर्ण कार्य है। जब मैं खालसादल में डेढ़ दिन रहा, तब मेरे मस्तिष्क में कोई सन्देह नहीं रह गया कि खालसा (पंथ) एक बार फिर भारतवर्ष के भविष्य-निर्माण में अवश्य एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा लेगा; क्योंकि उनका जीवन केन्द्रित एवं संगठित संघर्ष का एक दीर्घकालीन कार्यक्षेत्र है।

वर्त्तमान भारतवर्ष की अत्यन्त दुःखद बात हिन्दुओं और पंजाब के सिखों के बीच परस्पर सन्देह की भावना है। मेरे जैसे परदेशी के लिए यह समझना कठिन था कि ऐसा क्यों है। कुछ बाहरी बातों के अतिरिक्त, सिखों को मैंने पंजाबी हिन्दुओं से भिन्न नहीं पाया। ग्रन्थ साहेब मूलतः हिन्दू ग्रन्थ है। उत्तर-भारत में खालसा हिन्दुत्व की रक्षा करनेवाली दीवार थी। गाय के प्रति उनकी सम्मान की भावना अन्यान्य हिन्दू वर्गों की भावना की अपेक्षा अधिक है। हिन्दुओं और सिखों मे अन्तर्जातीय विवाह होते हैं। उनके भाग्य एक दूसरे से जुड़े हैं तथा भविष्य में भी इसी प्रकार सम्बद्ध रहेंगे। यदि एक दृढ़ प्रयत्न किया जाय तो वह इन दोनों का मूलगत ऐक्य कायम करनेवाली समझदारी पैदा करेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिखों में स्वयं ही अलगाव की भावना विद्यमान है। अकाली नेता मास्टर तारासिंह हैं, जिनके चरित्र-बल और दृष्टिकोण की स्पष्टता का, उनसे अपनी भेंट के स्वल्पकाल में ही, मैं समादर करने लगा था। उनके साथियों के साथ घनिष्टता होने पर, मुझे विश्वास हो गया कि इस कार्य की सिद्धि कठिन नहीं है, यदि पंजाबी हिन्दू-नेता पंजाब में सिखों की महत्त्वपूर्ण स्थिति का विचार कर उनके साथ व्यवहार करें।

जो उत्तर मैंने मिस्टर जिन्ना को दिया था, उसमें मैंने 'खालसा' को "अखण्ड हिन्दोस्तान" आन्दोलन का अग्रगामी दल बताया था। पाकिस्तान के प्रश्न पर सिखों के विचार अस्पष्ट

नहीं हैं। यदि बलपूर्वक उसके निर्माण का प्रयत्न होगा, तो वे उसके विरुद्ध वीरतापूर्वक संघर्ष करेंगे। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि उस संघर्ष के फल-स्वरूप उनके सम्मुख एक उज्ज्वल भविष्य प्रकट होगा, जैसा कि भूत काल में हो चुका है।

मैं उस अवसर को अपने जीवन के महान् क्षणों में गिनता हूँ, जब कि मैं नानकाना साहब में वार्षिकोत्सव के अवसर पर गुरु नानक को अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए आमंत्रित किया गया था।

मानव जाति के इतिहास की सबसे विचित्र घटना वह दृढ़ता और विनयशीलता है, जो भारतवर्ष और उसकी संस्कृति के साथ युग-युगान्तर से अब तक चली आई है। मिसर से प्राचीनतर और यूनान और रोम से अत्यधिक प्राचीन यह भारतवर्ष आज भी जीवित है और इसकी संस्कृति अक्षुण्ण बनी हुई है। भारत का सन्देश आज भी उतना ही प्रेरणात्मक है, जितना शताब्दियों पूर्व था। यह परम्परा उन अनेक महान् विभूतियों के कारण है, जिन्हें भारत ने युग-युग में जन्म दिया है। उन महापुरुषों ने प्रत्येक युग में देश को नवीन स्फूर्ति प्रदान की तथा प्रत्येक नवीन स्थिति में भारत के सन्देश को नई प्रेरणा दी।

भगवद्गीता ने वस्तुतः प्रभु के सन्देश को प्रकट किया है—

"जब जब होता ह्रास धर्म का, हो अधर्म का अभ्युत्थान;
तब तब मैं अवतीर्ण हुआ करता हूँ, अर्जुन, यह सच जान।"

जब १५ वीं शताब्दी में भारत अधोगति को प्राप्त हुआ

था, जब उसकी संस्कृति खतरे में पड़ गई थी, जब उसके निवासी दास की भाँति बेचे जाते थे और स्त्रियाँ अपमानित होती थीं, उस समय अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने उसे सहनशक्ति दी और बुराई के विरुद्ध संघर्ष की दृढ़ भावना उत्पन्न की। उन महान् विभूतियों में गुरु नानक साहेब की गणना सर्वोत्कृष्ट पुरुषों में होती है। बड़े ही सन्तप्त हृदय से उन्होंने देश की दशा का वर्णन इस प्रकार किया था—

बालाएँ हैं नहिं अब रहतीं—
सौरभमय जिनकी अलकावलि,
कुंकुमांक जिनके भालों पर—
महलों के रक्षित भवनों में,
जहाँ रही थीं किसी समय वे।
बर्बर बाबर के खड्गपात ने,
काटे जिनके केशपाश,
मुंडित शिर पर था धूलि-क्षेप,
आगार-रहित भ्रमणों में भी
पातीं विश्राम न जो कुछ भी।
आश्चर्यपूर्ण यह परिवर्त्तन !!
कैसी दुर्बोध व्यवस्था यह,
कैसे अगाध तेरे विधान !!
चंदिनी बनीं वे सुकुमारी,
कोमल ग्रीवाओं पर जिनकी,
हैं पड़े रज्जु फाँसी के अब—

जिनमें मुक्ता-मालाओं की
थी सुषमा छाई कभी प्रभो !!!
जिनकी विभूति, आकर्षण ने
सब डाल दिये थे चरणों में
लाकर बंदी मानव के गण।

× × ×

शस्त्रास्त्रसहित सेना के प्रति
है निकल चुकी यह राजाज्ञा—
"कर लो वश में, जिसको चाहो,
अपहरण करो उसका सतीत्व,
जैसे चाहो। यदि फिर चाहो,
तो दो निकाल, लज्जित करके॥"

× × ×

उतरीं सेनाएँ बाबर की
दुर्दशा हुई तब बंदी की।
साहस भी कर न सका कोई,
करने को अर्चा भी प्रभु की॥

फिर गुरू साहेब ने भविष्यवाणी के रूप में, उन दुःखों का वर्णन यों किया है, जिनसे उनका हृदय सन्तप्त हुआ था—

ले साथ वाहिनी अति विशाल,
भय का करती थी जो सँचार,
चल पड़ा त्वरित वह काबुल से।
मानों कोई दूलह दलबल
से चला, साथ ले पापामृत

हरने को बलपूर्वक मानो
निज वधू—हिन्दुओं की निधि जो।
हे लालो! हे लालो!
अब अभागिनी भू को यह
पीड़ा, विरूपमय कर देगी।
लज्जा, चरित्र-बल धर्म जहाँ
से विदा शीघ्र ही ले लेंगे।
निर्लज्ज पाप, प्यासे कुकर्म
फैलेंगे भू पर। प्रिय लालो!

ऐसे भयंकर समय में कोई भी जाति सदा के लिए अधः-पतन के गर्त में गिर जाती और फिर उसका उद्धार न हो पाता। पर भारतीयों के संबंध में ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि वे ईश्वर में पुनरुज्जीवित करनेवाला विश्वास रखते थे—

गाने दो मुझको गीतों को,
अनुरंजित रक्तधार से जो,
[हे नानक!]
माथे पर मेरे लग जाने
दो, रक्त-बिंदु का हो कुंकुम।
[हे लालो!]

× × ×

इच्छा पूरी होगी प्रभु की,
कर सकता कौन विरोध कभी
उसकी इच्छा का। हे नानक!

यह वही अटूट विश्वास है, जिसने अनेक बार भारत की रक्षा की है।

गुरु नानक ने तो प्रभु को पूर्णरूप से आत्मसमर्पण कर दिया था। उन्होंने गाया था—

अर्पण कर दे अपने को तू!
पड़कर उसके चरणों पर तू!
है सुखी वही, है शान्त वही,
जिस मानव ने है डाल दिया
अपने को उसके चरणों पर।

अपने को ईश्वर को सौंप देना ही नानक के जीवन की प्रेरणा थी, जो बात कि अनादि काल से सभी सिद्ध पुरुषों के विषय में रही है—

तेरा मन पूरित हो मुझसे,
तू दे मुझको अपना सनेह।
अपनी अर्चा, अपनी श्रद्धा,
तब तू पहुँचेगा पास मेरे।
मेरा प्रण है यह सत्य सदा॥

ये पंक्तियाँ कवि की कल्पनामात्र नहीं हैं, किन्तु इनमें एक सनातन सत्य निहित है, जो उसे प्राप्त कर लेने-वाले की रक्षा करता है। जो उस सत्य का अनुभव कर लेता है, वह तो महापुरुष है।

गुरु नानक साहेब ऐसे ही एक महापुरुष थे। वे प्रत्येक व्यक्ति के मित्र थे। वे दयालु तथा अहंभावरहित एक महा-

पुरुष थे। अहंकार तो उनको छू भी न गया था। वे सुख-दुःख के प्रति उदासीन, संतोषी एवं आत्म-संयमी थे। उन्होंने ईश्वर की इच्छा के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया था तथा अपने पथ पर अप्रतिहत गति से अग्रसर रहे थे। गुरु साहेब मानो एक बड़े रासायनिक थे, जिसका कारण उनका यही सिद्धान्त था। उन्होंने अशक्ति को शक्ति में, कायरपन को साहस में तथा आज के पराजितों को भविष्य के विजेताओं में परिवर्तित कर दिया था।

वे संघर्ष के उच्चतम शिखर पर आसीन हो गये थे। प्रत्येक क्षण कर्त्तव्यशील थे। उन्होंने अपने जीवनवृत्त से अपने प्रत्येक कार्य का अनुमोदन किया था।

प्रणय-क्रीड़ा-कठोर की तू।
यदि करने की इच्छा करता,
तो, ले उतार पहले अपना।
शिर धर ले उसे हथेली पर,
फिर अदमनीय आत्मा से युत,
अनुसरण करे तू पथ मेरा।
आगापीछा न करे कुछ भी,
भयभीत न हो कुछ भी मन में,
तैयार रहे मेरे प्रिय तू!
देने को, शिर सहर्ष अपना।

यही वह सन्देश है, जिसे गुरु नानक साहेब ने देश को सर्वाधिक विपत्ति काल में दिया था—बुराई का विरोध

करो ; अपने प्रयत्न में अपना जीवन लगा दो। यही वह अविचलित प्रतिकार का सन्देश था, जिसने देश में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। पूज्य गुरु तेग़बहादुर को इसी संदेश ने प्रेरणा दी थी, जिससे उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह के हेतु औरंगजेब की असहिष्णुता के सम्मुख सहर्ष अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। इसी के कारण गुरु गोविन्दसिंह खालसा का निर्माण करने में समर्थ हुए, जो कि वृद्ध भारत का खड्गरूपी हस्त था। इसी के कारण उत्तर-भारत में मुग़ल-साम्राज्य का विध्वंस करने का दृढ संकल्प एवं शक्ति उत्पन्न हुई थी।

मुझे ईश्वर द्वारा निर्धारित अपना कार्य पूर्ण करने के पूर्व, अपने मस्तक को अपनी हथेली पर रखनेवाले सन्देश को समझने की कोशिश करने दीजिए।

हमारे वर्त्तमान जीवन को ही लीजिए। यदि 'पश्चिम' हमें आकर्षक वस्तुएँ देता है, तो हम उनमें फँस जाते हैं। योरप के स्वभाव एवं दृष्टिकोण का अनुसरण करके हम अराष्ट्रीय 'उजबक' बन जायँगे। यदि विदेशी शासक हमें कुछ आशाएँ देंगे तो हम उनके प्रभाव को रोक नहीं पावेंगे और अवश्य अपने ही को धोखा देंगे। यदि हमारे शत्रु हमें भयभीत करते हैं, तो हम काँपने लगते हैं और पराजित होने की भावना मन में लाने लगते हैं। चालीस करोड़ व्यक्ति, बाड़े में बंद भेड़ों की भाँति, उनकी दी हुई दमपट्टियों के भुलावे में पड़े हुए और भविष्य से भयभीत हैं।

गांधीजी ने हमें सत्याग्रह का पाठ पढ़ाया। उन्होंने

कहा—"सत्य के हेतु अपने प्राणों की बाजी लगा दो।" यही भगवद्गीता का भी बहुत पुराना सन्देश है—

है हितकारी निज विगुण धर्म
पर श्रेष्ठ धर्म के भी आगे,
श्रेयस्कर है मरना, पालन
करते-करते निज धर्म सदा।
पर-धर्म भयावह है होता।

वही यह सन्देश है जिसके लिए गुरु नानक साहेब जिये तथा जिस गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह ने अपने जीवन में प्रमाणित किया।

किन्तु हमने उस सन्देश को किस प्रकार ग्रहण किया? हमें स्वयं अपने सत्य का ही ज्ञान नहीं है और उससे कहीं अधिक कम अपने जीवन को उसके समर्थन में लगाने का ज्ञान। कुछ कार्य हम सामूहिक प्रेरणा के कारण भले ही कर लें, प्रशंसा अथवा अपने अधिकार-पद को अक्षुण्ण बनाये रखने के हेतु भी हम चाहे कुछ काम करें, कुछ कार्य हम जाति-च्युत होने के भय से भी चाहे कर लें; किन्तु यह सब "अपना मस्तक अपनी हथेली पर रखना" नहीं है।

गुरु नानक का यह 'शाश्वत जीवन' का सन्देश प्रत्येक व्यक्ति, जो उसे श्रवण करना चाहता है, सुन सकता है। हम एक विलक्षण काल में रह रहे हैं, जो यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक बुरा नहीं, पर उतना बुरा तो है ही, जितना वह काल था जिसका गुरु साहेब ने उल्लेख किया है। हम निःशस्त्र, असहाय तथा विदेशी शासकों के खिलौने भर हैं। हमारी

सीमाओं पर कभी भी आक्रमण हो सकता है। हमारे देश की एकता फूट डालनेवालों से आतंकित है।

सभी बुरी वस्तुओं के विरुद्ध सुदृढ़ संघर्ष ही केवल हमारी आशा है। यह संघर्ष कई मोर्चों पर होगा, पर उन सबकी अपेक्षा सबसे आवश्यक है देश की एकता की रक्षा का मोर्चा। यदि हम भारत को, इस अन्तरराष्ट्रीय क्रान्ति-काल में तथा आन्तरिक विद्वेष करानेवाले आन्दोलन के बावजूद एक बड़े संघर्षात्मक प्रयत्न द्वारा अखण्ड और संगठित बनाये रक्खें, तो भारत एक महान् और स्वतन्त्र देश के रूप में प्रकट होगा, तथा अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बनेगा। तब हम इस सन्देश के अनुकूल जीवन-निर्माण करेंगे; क्योंकि अपने मस्तक को अपनी हथेली पर रखने के सन्देश को हम सीख चुके होंगे।

(ता० २० नवंबर, सन् १९४१ ई० के सोशल वेलफेयर से उद्धृत)

(३)

वन-महोत्सव का रक्षक देवता

इस 'देहोत्सर्ग' के स्थान पर—अर्थात् उस जगह, जहाँ श्रीकृष्ण ने अपना नश्वर शरीर छोड़ा था—यह वृक्ष आरोपित करने में मैं बड़े ही मनोवेग से प्रभावित हूँ। यह कुछ फुट भूमि संसार में सबसे पवित्र है; क्योंकि यहीं उन्होंने अपने सांसारिक जीवन के अन्तिम क्षणों में विश्राम किया था। गाय और वह वृक्ष, जिसे 'गो-सख' अर्थात् गाय का साथी कहते हैं, उनके भी साथी थे। वृन्दावन उनका वन था। गिरि-पूजा उनका सम्प्रदाय था। मथुरा के निकट 'गोवर्द्धन' में और यहाँ पर 'रैवतक' पर, उन्होंने पर्वतों और वनों की पूजा की थी। वे पारिजात और वैजयन्ती तुलसी लाये थे, और उन्हें यहीं लगाया था। वे 'वन-महोत्सव' के संरक्षक देवता हैं, अतः हम उन्हें श्रद्धाञ्जलि देने के लिए एकत्र हुए हैं।

यह स्थान प्रभास तीर्थ के अद्भुत संस्मरणों को जाग्रत् करता है। मेरे सामने बलराम का चित्र खिंच जाता है, जो

अपनी पत्नियों के कंधों का सहारा लिये हुए पश्चिमी समुद्र की उन्मादक हवाओं के बीच मद्यपान का आनन्द ले रहे हैं। मैं पाण्डवों में ज्येष्ठ धर्मराज को भी अपने मानस-पटल पर देखता हूँ, जो तीर्थयात्रा करते हुए सोमनाथ के मन्दिर में आये थे। मैं यहाँ सुभद्रा के चंचल दृष्टि-पात को भी देखता हूँ, जब उन्होंने अर्जुन की ओर उस समय प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा था, जब वे कृष्ण के साथ, हाथ में हाथ मिला-कर, 'हिरण्य' के किनारे पर चल रहे थे। बड़े खेद के साथ मैं यहाँ यादवों के आपसी भ्रातृ-बध को भी देखता हूँ, जिन्होंने अपने ऐश्वर्य के उन्माद में एक दूसरे को मार डाला था। बालार्क तीर्थ पर मैं स्वयं कृष्ण को एक वृक्ष के नीचे सोया हुआ देखता हूँ और देखता हूँ व्याध के शीघ्रगामी बाण को भी, जो उनके चरण में लग जाता है। वे काँपकर जाग पड़ते हैं, पर मानवोत्तर प्रज्ञा के साथ मन्द हास्य करते हैं; क्योंकि इस भूमिका पर उनका कार्य समाप्त हो चुका है।

उनके जीवन से सम्बद्ध, कभी न भूलनेवाले, अनेक संस्मरण हैं। दिव्य बालक के रूप का संस्मरण, जिसे सभी प्यार करते थे; विश्वस्त मित्र का संस्मरण, जिसने उन लोगों को कभी न त्यागा जिन्होंने आत्म-समर्पण के साथ उसे खोजा था; चित्त चुरानेवाले प्रेमी का संस्मरण, जो दूसरों से प्रेम करता था और जिससे लोग अनश्वर और उत्कट व्यग्रता के साथ प्रेम करते थे; उस क्रान्तिकारी के रूप का संस्मरण, जिसने स्वजनों को दासता के बंधन से छुड़ाने के लिए उनका नेतृत्व किया था; योगेश्वर के रूप में संस्मरण, जो

ईर्ष्या-द्वेष-पूर्ण युग में भी सांसारिक स्तर से इतना ऊँचे उठ गये थे कि मनुष्यों ने उनके रूप में न केवल अपने एक नेता का, जो भारतीय ऐक्य का मूर्त रूप था और न केवल संसार के शिक्षक का, जो नैतिक व्यवस्था का व्यवस्थापक था, वरन् साक्षात् परमेश्वर का साक्षात्कार किया था।

जीवन-क्षेत्र में वे महान् थे। केवल महान् ही न थे, उनका व्यक्तित्व सामंजस्य से युक्त, सम्पूर्ण और सुन्दर था। तीन हजार से अधिक वर्ष बीत चुके हैं, तब भी वे हमारे हृदयों में निवास करते चले आ रहे हैं। कोई भी माता किसी अद्भुत बालक को 'बाल-गोपाल' के स्वरूप से इतर रूप में सोच ही नहीं सकती। कोई उनके नाम स्मरण के बिना या रास के संस्मरण के बिना न गा सकता है, न नृत्य कर सकता है। उन्होंने जिन सचाइयों की शिक्षा दी है, उनको किसी दूसरे शिक्षक ने शिक्षा नहीं दी। उन्होंने जो रहस्य बताया है उससे अधिक मनुष्य को कभी मिला ही नहीं, जिसके द्वारा मनुष्य मानवोचित निर्बलता से युक्त होता हुआ भी—इसी जीवन में उन्हीं में लग हो सकता है। उन्होंने भगवद्गीता में जो सन्देश दिया है, वह 'शाश्वत-जीवन' का सन्देश है। अर्जुन से लेकर महात्मा गांधी तक ने—सारे छोटे बड़े भारतीयों ने इसी सन्देश के अनुसार जीवन बनाने में जीवन की सार्थकता प्राप्त की है—अर्थात् उनका 'निमित्त मात्र' हो जाने में। उनका 'निमित्तमात्र' बने बिना कोई भी आदमी न तो आत्म-साक्षात्कार कर सकता है, न अपनी आत्मा के प्रति सच्चा ही हो सकता है।

२७ वर्ष पूर्व मैं इसी जगह आया था। तब यह स्थान शीतपूर्ण और उजाड़ था। उषःकाल में, मुझे यह देखकर बड़ा ही क्षोभ हुआ था कि इस युग की कृतघ्न सन्तति किस प्रकार इस स्थान की उपेक्षा कर रही है। पर ईश्वर की इच्छा बलवती है। भारत स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्र भारत के लोगों ने यह निश्चय किया कि इस स्थान को उस प्रतिष्ठा और सौन्दर्य से सम्पन्न किया जाय, जो इसके पवित्र संस्मरणों के अनुरूप हो। मैं तो केवल उस ईश्वर को धन्यवाद ही दे सकता हूँ, जिसने मुझे यह दिन दिखाया है। बड़ी विनम्रता से मैं उसे धन्यवाद देता हूँ कि इस वृक्ष को उस जगह लगाने का मौक़ा देकर, जहाँ उस प्रभु ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण व्यतीत किये थे, उसने मुझे अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का अवसर दिया।

(ता० ४ जूलाई, सन् १९५० ई० को वन-महोत्सव-समारोह के समय देहोत्सर्ग-स्थान पर दिया गया भाषण।)

(४)

श्रीमद्भगवद्गीता : एक अनुशीलन

१—संघर्ष की भावना या दृढ़ इच्छा

अनेक पुस्तकों में से, कुछ ही उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थों की श्रेणी में आ पाती हैं। उनमें से भी आधे दर्जन से अधिक धार्मिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकृत नहीं की जातीं। ऐसी धार्मिक पुस्तकों में भगवद्गीता—वह गीता, जो मानव और ईश्वर के मध्य में एक अनोखा संभाषण है, एक प्रधान ग्रन्थ है। एड्विन् आर्नाल्ड (Edwin Arnold) ने उसे स्वर्गीय गान (The Sing celestial) कहा था, हम्बोल्ट (Humboldts.) ने उसे 'सबसे सुन्दर, संभवतः किसी भी ज्ञात भाषा का वास्तव मे एकमात्र दार्शनिक गीत' कहकर उसको वैशिष्ट्य प्रदान किया था। उसकी प्रमुखता के अनेक कारण हैं।

यह श्रीकृष्ण का संसार के गुरु—विजयिनी मानवता के मूर्तरूप—कृष्ण का अमर सन्देश है।

इसके रचयिता हैं द्वैपायन व्यास—महाभारत के प्रणेता, कवियों के कवि, मानव जाति के प्रथम और सबसे बड़े पैग़म्बर।

पिछले २,५०० वर्षों से इस धर्मग्रन्थ की शिक्षाओं ने अगणित व्यक्तियों को—शंकर तथा रामानुज आदि को, एवं आधुनिक काल के लोगों में विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और गांधीजी को अपूर्व आत्मिक बल दिया है।

इसी से भागवत और तुलसीदास के रामचरितमानस जैसे अमर ग्रन्थ-रत्नों की प्रेरणा मिली थी, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के चिरंतन आधार को एक साँचे में ढाला और उसे बल प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त, इस ग्रन्थ की एक सार्वभौमता है, जो मानव-कार्यकलाप के हर एक पहलू को शामिल किये हुए है तथा मनुष्य के अभ्युदय के प्रत्येक स्तर के अनुकूल होकर उस स्तर को समुन्नत करती है।

तथापि आधुनिक भारतीयों के मन में एक भीरुता समा गई है। उनके अचेतन मस्तिष्क में यह भावना सी हो गई है कि यदि वे गीता का अधिक आश्रय लेते पाये जायँगे तो उनकी गणना अंध-विश्वासी, निर्बल और रूढ़िवादी लोगों में होगी।

हम लोगों में वस्तुतः इस प्रकार का भय है। पर यदि यह अपेक्षित है कि भारत संसार को प्रभावित करने के हेतु सफलतापूर्वक गतिमान् रहे, तो इस भय का अवश्य ही निराकरण होना चाहिए।

सन्त पाल (St. Paul) ने रूम के लोगों को जो पत्र लिखा था, उसमें यह उल्लेख था—"मैं ईसूमसीह का नसीहत पर लज्जित नहीं हूँ, तो श्रीकृष्ण ने मानव जाति को जो उपदेश दिया है, उस पर किसी को क्यों लज्जित होना चाहिए ? किसी आदमी को अपनी योग्यता, सहज कलाप्रियता या दिखावे की शक्ति पर कोई लज्जा नहीं होती—ये बातें उसमें चाहे जितनी स्वल्प मात्रा में ही क्यों न हों; तो फिर शक्ति के यथार्थ स्रोत को खुले तौर पर स्वीकार कर लेने में किसी को क्यों लज्जित होना चाहिए ? यह वह शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति में बल का संचार करती है, उसके शक्तिरहित होने पर, उसे अनुप्राणित और उसके सबल होने पर सुस्थिर रखती है।

जब सभी साधन निष्फल सिद्ध होते हैं, तब गीता के शब्दों द्वारा ईश्वर आदेश देता है—

"हे पार्थ, त्याग दे क्लीव-भाव,
यह तो तेरे उपयुक्त नहीं।
तज क्षुद्र हृदय की दुर्बलता,
हो जा सन्नद्ध शत्रुसूदन !"

तब भय भाग जाता है। हमें आत्म-बल मिलता है, जिससे अनुप्राणित होकर अर्जुन के समान, हममें से हरएक कह सकता है—

"मैं स्थिर हूँ दृढ़ता-पूर्वक,
संशय हैं मेरे नष्ट सभी।

तेरी आज्ञा कर शिरोधार्य,
मैं कर्म करूँगा सदा सभी।"

जितनी ही अधिक निराशापूर्ण परिस्थिति होती है, गीता उतनी ही अधिक शक्ति प्रदान करती है। बलवानों का यही अनुभव रहा है, तो हम जैसे निर्बलों को इसी से प्रेरणा क्यों न लेनी चाहिए ?

जो बल गीता से प्राप्त होता है, वह ऊपरी नहीं होता। उसका संबंध तो निजी यथार्थ शक्ति अर्थात् 'आत्मबल' से होता है, जो कि दुनियावी ताक़त की तरह ऊपरी तड़क-भड़क और रोबदाब नहीं है। यह वह ताक़त है जो एक आदमी को, जो कुछ कि वह है, उससे ज्यादा बना देती है। उसके प्राप्त करने पर निर्बल सबल हो जाते हैं, ओछी प्रकृतिवाले गम्भीर हो जाते हैं; वाचाल मौन, उद्धत विनम्र और अकर्मण्य सक्रिय बन जाते हैं। श्रद्धावान् को उससे ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है। संसार में उन्नति करके यश प्राप्त करने की, शत्रुओं को परास्त करने की एवं ऐश्वर्य के उपभोग की शक्ति भी मिलती है। यह वह शक्ति है जिससे बड़ी शक्ति पाने की न तो मनुष्य इच्छा ही कर सकता है, और न उसे पा ही सकता है।

गीता द्वारा केवल व्यक्तियों को ही नहीं, प्रत्युत जातियों और राष्ट्रों को भी, यदि वे उसके सन्देश को क्रियात्मक बना सकें तो, शक्ति प्राप्त होती है।

गीता के सन्देश को हम संक्षेप में—"सृजनात्मक संघर्ष" (Creative Resistance) कह सकते हैं। इसके

दो पहलू हैं—रचनात्मक एकाग्रता और संघर्ष का दृढ़ संकल्प। दूसरा पहलू इस उत्कृष्ट अमरवाणी में निहित है—

अर्पण कर सारे कार्य मुझे,
निज चित को आत्मभाव में रख।
हो आशा-ममता-रहित,
विगत-संताप, युद्ध-रत हो जा तू!

आत्मा द्वारा अनात्मा से, चाहे जहाँ हो या चाहे जैसे हो, संघर्ष कर अपने शारीरिक तथा आत्मिक बल से उससे संघर्ष कर—कुछ श्रेय लेने के विचार से नहीं, वरन् ईश्वरार्पण बुद्धि से। गीता का यही सन्देश है।

अतीत काल में, जब विदेशियों के झुंडों ने भारत को पादाक्रान्त किया था, तब शासकवर्ग की शक्ति और धार्मिक कट्टरपन के आवेश ने उसके विरुद्ध संयुक्त मोर्चा लिया था। जब उसका स्वातन्त्र्य, विश्वास, संस्कृति, यहाँ तक कि उसका अस्तित्व भी सुरक्षित न रहा था, तभी गीता के सन्देश ने उसे शक्ति और सहनशीलता दी थी, साथ ही संघर्ष की दृढ़ भावना भी।

तब हमने सामाजिक क्षेत्र में संघर्ष किया था और श्रेणियों को जातियों में परिवर्तित कर दिया था और कुटुम्बों को सम्मिलित कुटुम्बों का शक्ति-शाली रूप दे दिया था। धार्मिक क्षेत्र में भी हमने संघर्ष किया था और भक्ति को उत्पन्न किया था—चैतन्य, कबीर, गुरु नानक की भक्ति—जिसने धार्मिक असहिष्णुताओं के वैषम्य को दूर कर दिया था। बौद्धिक भूमिका पर भी हमारा संघर्ष हुआ, और

हमने संस्कृत-भाषा को वाग्देवी के मंदिर में बिठाया—चिरंतन रूप से अनुप्राणित करनेवाली माता के रूप में। राजनीतिक स्तर पर भी हम संघर्ष-शील हुए और राजाओं की शक्ति को घटाकर उसे, समाज और संस्कृति को बिना विशेष रूप से प्रभावित किये, आपस में ही झगड़ा करने की स्वतन्त्रता के रूप में परिणत कर दिया।

"शान्ति का स्रोत ब्रिटेनिका!" (Pax Britannica) की आकर्षक उक्ति ने हमें यथार्थ पदार्थों का भान विकृत रूप में कराया। इसी ने भारत की संघर्ष की चेतना को निर्बल बना दिया। फलस्वरूप जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसने हमें कठिनाइयों में ढकेल दिया। परन्तु संघर्ष की दृढ़ भावना स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के द्वारा प्रकट हुई।

अटिल्ला (Atilla) से भी कहीं अधिक खूँख्वार आदमी ने एक के बाद दूसरे देश में हत्याकाण्ड और गुलामी फैलाते हुए तथा हर कदम पर भारत के निकटतर आते हुए संसार में अपना प्रभाव फैलाया। एक गैरजिम्मेदाराना नौकर-शाही ने हमारे संगठन की स्वतन्त्रता को दबा दिया, और स्वयं एक ऐसी शक्ति का संग्रह किया, जो देश को स्वतन्त्रता का गला ही घोट सकती है। देश को पादाक्रान्त करने की या उसे विभाजित करने की महत्त्वाकांक्षा ने कुछ लोगों को समुत्तेजित किया, जिससे जान-माल का खतरा पैदा हो गया। पाश्चात्य संस्कृति ने अर्थात् टैंकों और बम बरसानेवाले

वायुयानों की विशाल गर्भस्थली ने धोखे से हमारी आत्मा को निर्बल बना दिया। उसने ऐसे खतरे पैदा किये जिन्हें हम पहले जानते भी न थे। हमने अपने को असहाय अनुभव किया, हम विदेशी सहायता के लिए रोये-चिल्लाये। चारों ओर हमने सहानुभूति के लिए व्यर्थ ही निगाह दौड़ाई। उस जमाने में गीता की आत्मा गांधी द्वारा मुखरित हुई, और युद्ध के अन्त के साथ ही दासता का भी अन्त हुआ। परन्तु विदेशियों की दासता के अन्त से आत्म-पूर्णता के युग का प्रादुर्भाव न हो पाया। पार्थक्य की भावना, कर्मण्यता की भावना की कमी या अभाव, अधिकार-प्राप्ति के लिए अनुचित भाग-दौड़ और साम्यवाद—मानवजाति के शक्तीकरण का मन्दिर—अब भी हमारे शत्रु बने हुए हैं। एक गीता का ही सन्देश देश के लिए आशा-दीप है। भारत अपने को ईश्वरार्पण कर दे, यही उचित है। उसे चाहिए कि वह भ्रान्तिपूर्ण आशाएँ, सस्तेपन से उपार्जित रामराज्य-युग के प्रवर्त्तन की अभिलाषा त्याग दे। उसे ईश्वरीय वाणी सुनना और सारी बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिए—वह बुराई चाहे जिस रूप में हमारा सामना करती हो।

२—होना या करना : प्रश्न यह है

संवृद्धि या विकास का सार है संघर्ष। वह चाहे व्यक्तिगत हो या समाजगत। यदि कोई संघर्षशील नहीं है, तो वह तृण से भी ज्यादा तुच्छ है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की दिशा में अनात्मभाव के विरुद्ध संघर्ष पहला क़दम है। व्यक्तित्व के विकास-क्रम में, वह प्रतिक्षण पहले से भिन्न होता जाता है। व्यक्तित्व का यह निरंतर का विकास, आत्मभाव की ओर अधिकाधिक बढ़ने की क्रियामात्र है। अतः 'आत्मभावयुक्त' होना ही पूर्णता की ओर अधिक अग्रसर होना है।

"मैं 'आत्मवान्' होना चाहता हूँ"—यह प्रत्येक मनुष्य की उत्कट अभिलाषा है। इस आत्म भाव का तात्पर्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का उद्घाटन नहीं है। वह तो अपनी वृत्तियों में अधिक समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा है, और है अवसरों के ही संवर्धन के साथ-साथ किया गया निजी सारी क्षमताओं का विकास। यह वह इच्छा है, जो हमारी व्यक्तिगत विशेषताओं के सम्यक् ज्ञान और उनके विकास पर जोर देती है। यह हमें उन अन्य व्यक्तियों की श्लाघा करने को भी प्रेरित करती है, जिनमें विशेष विभूतियाँ हैं अर्थात् जो विशेष रूप से 'आत्मवान्' हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हममें से अनेक लोग अपने व्यक्तित्व का विकास अधिकतर बाहर की ओर से करते हैं, न कि भीतर की ओर से। उदाहरण-स्वरूप, कुछ लोग बाल सँवारते हैं तो कुछ अपनी वाणी, चालढाल और शकल-सूरत में परिवर्तन करते हैं। दूसरे लोग शारीरिक एवं मानसिक गुणों का संग्रह करते हैं। पर इन सारे कृत्यों का प्रयत्न इसलिए होता है कि जो कुछ भी हम हैं, उससे अधिक प्रख्यात और प्रभावशाली हो जायँ। परन्तु व्यक्तित्व, 'वस्तु-

संग्रह' का परिणाम नहीं है। वह तो दूसरों की अपेक्षा अधिक आत्मवान् होने का प्रतिफलन है अथवा आन्तरिक शक्ति का केन्द्र होने में है।

किसी मनुष्य का बड़प्पन इसमें नहीं है कि वह करता क्या है, किन्तु इस बात में है कि वह क्या था, और अब क्या हो गया है। अतः यह 'हो जाने' की क्रिया 'करने' की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चतर है। बाह्यरूप से दूसरों की सेवा की अपेक्षा पूर्णरूप से आत्मवान् होना ही एक उच्चतर सेवा है। ईसू मसीह ने पर्वतशिखर पर दी गई अपनी शिक्षा (Sermon on the Mount) में कहा था—"तू अपने स्वर्गस्थ पिता के समान ही पूर्णता प्राप्त कर"। 'पूर्ण हो जाना', प्रतिक्षण अपने में निहित उच्चतम तत्त्व की अनुभूति करना ही मानव जाति की उत्कृष्ट सेवा है—

बढ़कर तापस से है योगी,
ज्ञानी से भी बढ़कर योगी।
कर्मशील से भी बढ़कर है,
अतः बने तू योगी, अर्जुन!

जो पुरुष यथार्थ में बड़ा है, उसका बड़प्पन उसके जीवन में निहित है, न कि उसके कर्मों में। जो कोई व्यक्ति गांधीजी से मिला, उसने यह अनुभव किया कि मनुष्य में, कहने और करने से बढ़कर भी कोई अन्य उच्चतर सत्ता है। जब-जब भी मैं उनसे मिला, मैंने यही अनुभव किया कि अपने बड़े से बड़े कार्यों की अपेक्षा वे स्वयं कहीं अधिक महान् हैं। मिस्टर मोरले (Mr. Morley) ने लिखा है—

संसार मिस्टर ग्लैडस्टन (Mr. Gladstone) में जिस बात से दिलचस्पी लेता है, वह बात इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वे क्या थे और उन्होंने क्या किया है। वह बात थी उनकी प्रतिभा, उनका आकर्षण और उनकी शक्ति, अगणित आकस्मिक घटनाएँ, उनका दोहरा व्यक्तित्व और उससे भी अधिक उनका व्यक्तित्व।

क्या मिल्टन (Milton) ने यह नहीं कहा था कि भली भाँति लिखने की योग्यता के लिए यह जरूरी है कि लेखक स्वयं ही यथार्थतया एक कविता हो। लेखक को वीरों और प्रसिद्ध नगरों की महती प्रशंसा के गीत गाने की अनधिकार चेष्टा न करनी चाहिए, जब तक कि उसे स्वयं, जो कुछ कि श्लाघ्य है, उसका अनुभव या व्यावहारिक भूमिका पर उसका प्रत्यक्षीकरण न हो गया हो।

सुकरात ने ही अपने अदम्य व्यक्तित्व के द्वारा, अपने सम्पर्क में आनेवालों को प्रभावित करने के अतिरिक्त किया ही क्या था? अलसिबायडीज (Alcibiades), जो श्रेष्ठ, पर समाज द्वारा तिरस्कृत एक व्यक्ति था इसी बात को इस प्रकार सिद्ध करता है—

"मैं जब उसे बोलते हुए सुनता हूँ तो मेरा हृदय उन लोगों के दिलों की अपेक्षा, जिन्होंने कि कोरीबन्ट * की पोशीदा रसूमात को किया था, बहुत ही अधिक उछलता है। जैसे ही वह बोलने लगता है, मेरे अश्रु-

* ग्रीक आख्यान के आधार पर, कोरीबन्ट नामक पुरोहित के द्वारा किये गये गोपनीय धार्मिक कृत्य।

पात होने लग जाता है। मैंने अन्य लोगों में भी यही बात होते देखी है। मैंने पिरिक्लीज (Pericles) तथा अन्य उत्तम वक्ताओं के भाषणों को सुना है, और सुनकर आह्लादित हुआ हूँ। पर इस तरह की बात कभी नहीं हुई, और न कभी इन अवसरों पर किसी के दिल में खलबली हुई, न वह आत्मग्लानि में ही डूबा जैसे कि वह आत्मदासत्व की तुच्छ भावना से डूबता। परन्तु इस मरसिअस् (Marsyas) ने मुझे प्रायः उसी तरह प्रभावित किया है, जैसा कि मैं बयान कर रहा हूँ। इसका असर यहाँ तक हुआ कि मुझे ऐसा लगा कि जिस तरह की मेरी जिन्दगी है वह जीने के ही योग्य नहीं है।.....अतः मैं इस व्यक्ति से दूर भागता हूँ—छिपता हूँ और अगर उस पर निगाह पड़ ही जाती है तो मुझे बेहद जिल्लत मालूम होती है ; क्योंकि मैंने वैसा करने में लापरवाही की है, जैसा करना मैंने उसके सामने स्वीकार किया था। अधिकतर मैंने यही चाहा है कि अब मैं उसे इन्सानों में कहीं न देखूँ। पर अगर कहीं यही बात हो जाय तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मुझे बेहद रंज होगा। बस, यही मेरी तबियत पलटा खाती है, या कि मुझे इसका ज्ञान ही नहीं है कि ऐसे व्यक्ति के साथ कैसे पेश आया जाय। इस बन-देवता की तीखी बोली सुनकर यही सब कुछ मैंने और दूसरे लोगों ने भी महसूस किया है।

हर बड़े आदमी की जिन्दगी में हम एक प्रयत्न देखते हैं, जिससे उसने अपनी कमजोरियों के साथ संघर्ष किया है। हम उन स्थितियों को भी ढूँढ पाते हैं, जिनसे गुजरते

हुए उसने अपने व्यक्तित्व को पाया है और जिनसे उसने आज़ादी हासिल की है, जिसके ज़रिये उसकी कूवतों का इज़हार हुआ है।

इस तरह वे लोग, जो आत्मोन्नति के क्रमशः विकास के बिना सफलता चाहते हैं, 'आत्मवान्' होने का आनन्द नहीं जानते। उन्हें यथार्थ बड़प्पन नहीं मिलता। गीता स्पष्ट शब्दों में उनकी भर्त्सना करती है—

*"लेकर आश्रय उन इच्छाओं का
जो न पूर्ण होनेवाली।
दंभ-मान-मद से प्रेरित हो
क्रिया-शील जो बने हुए।
भ्रष्टाचरणों के बंधन में
त्यों अज्ञान अँधेरे में—
पड़े हुए, मिथ्या को पकड़े
सत्य छोड़कर चिन्ता में—
जो प्रलयान्त न पूरी होंगी—
रमे हुए। उपभोगों में
रह तत्पर, उसको ही जो हैं
सत्य मान कर, विचर रहे।
आशा के शत पाशों में बँध,
काम-क्रोध के हो वश में,
अनुचित साधन से धन-संग्रह
विषय भोग के हेतु अहो!

* गीता—१४-१०-१६

मैंने प्राप्त किया है इसको,
प्राप्त करूँगा उसको भी;
इतना धन तो है ही मेरा
उतना फिर हो जायेगा।
मारा है मैंने इस अरि को
मारूँगा औरों को भी;
स्वामी हूँ, उपभोक्ता भी मैं,
सिद्धि-युक्त, बलवान्, सुखी।
कौन दूसरा मेरे सम है,
धनी कुलीन कौन ऐसा?
यज्ञ करूँगा, दान करूँगा,
मौज करूँगा मैं, देखो!।
इस प्रकार अज्ञान-मूढ़ हो,
चित्त-भ्रान्ति में पड़े हुए।
मोह-जाल में, काम-भोग में,
फँसे, नरक में हैं जाते।

एकान्ततः बाहरी उपासना, चाहे वह जिस रूप में हो, मनुष्य के आन्तरिक स्तर को हानिकर है, जो स्तर कि उसे बल, सौन्दर्य और ख्याति देता है।

नाज़रेथ के पैग़म्बर ने पूछा था—"यदि मनुष्य सारे संसार को पा जाय, पर अपनी आत्मा को ही नष्ट कर दे, तो उसे इस प्राप्ति से लाभ ही क्या है?"

अनेक लोग यथेच्छ सांसारिक पदार्थों को तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपने को खोकर, और तब उन्हें ज्ञात होता है कि वे उसे आत्मसात् नहीं कर सकते।

३—ईश्वरार्पण

गीता किसी एक पुरुष या किसी वर्ग के व्यक्तित्व की समुन्नति के निमित्त संघर्ष को अत्यावश्यक मानती है, पर वह "सारे कर्मों को मेरे अर्पण करो" के सिद्धान्त पर जोर देती है।

इस "ईश्वर-प्रणिधान" ने, अर्थात् सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर देने के सिद्धान्त ने, मुझे बहुत समय तक खूब छकाया। मेरे कालिज के जीवन की बौद्धिक भूमिका का निर्माण स्पेन्सर और मिल् द्वारा हुआ था। अतः मैं यह नहीं समझ पा रहा था कि व्यास, पतंजलि, ईसा, सन्त अगस्तीन और चैतन्य, नरसिंह और मीरा ने—जो सभी महापुरुष एवं उत्कृष्ट प्रतिभा और बलिष्ठ व्यक्तित्व से युक्त तथा सत्यनिष्ठ थे—क्यों इस समर्पण को आत्मवान् होने के लिए एक आवश्यक अंग समझा। गीता ने बार-बार इसका आदेश दिया है—

शरण गहे तू सर्व भाव से, उस प्रभु की, उसके प्रसाद से
हे भारत! तू पावेगा वह, परम शान्तियुत परम-धाम॥
तज कर सारे कर्त्तव्य कर्म, तू आश्रय में मेरे आ जा
सारे पापों के बंधन से, मैं ही तुझको मुक्त करूँगा॥
तू दुखी न हो अपने मन में॥

यह कैसी विचित्र बात है कि इस सन्देश ने शताब्दियों तक पीड़ित हृदयों को सान्त्वना दी है!

यद्यपि इस आत्मसमर्पण के भाव को मैं अब थोड़ा बहुत समझता हूँ, परन्तु इस पर अमल करना उतना सरल नहीं है, जितना कि इसको समझ लेना। अनेक भक्तों ने जीवन भर इसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया है, पर उन्हें इसमें सफलता नहीं मिल पाई। एक महान् व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित मार्गों में से यह सबसे क्लिष्ट एवं उत्कृष्ट है। इसके बिना ईश्वर-भाव अर्थात् पूर्णता हममें रह ही नहीं सकती। इसके बिना "आत्मवान्" होना भी यथार्थ है; क्योंकि आगे बढ़ने के लिए फिर कोई लक्ष्य रह ही नहीं जाता।

आजकल के अविश्वासी मस्तिष्कवाले पुरुष के लिए, जिसमें धार्मिक बातों को समझने के लिए धैर्य ही नहीं है, इस विषय को समझना यदि असंभव नहीं, तो कठिन तो है ही। किसी के व्यक्तित्व की समुन्नति, जितनी दूसरे व्यक्तित्व—पिता, गुरु, मित्र या प्रियजन—के प्रभाव से होती है, उतनी किसी दूसरे उपाय से नहीं। यह व्यक्तित्व जितना ही सबल होता है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

कुछ लोग हमारे व्यक्तित्व को विकसित कर देते हैं। उनके सामने हम अधिक अच्छे और अधिक बड़े हो जाते हैं। उनके एक ही वचन से हमें अभूतपूर्व बल मिल जाता है। यदि ऐसे व्यक्ति से हमारा साहचर्य दिन-रात रहे या हमें उसका ध्यान बराबर बना रहे, तो उसकी प्रेरणा सदा हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी। किसी महापुरुष के व्यक्तित्व का यह 'अन्तर्निवास' एक बड़ी शक्ति बन जाता है, जिससे हमारी आत्मा का उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास होता है।

जब कभी किन्हीं महापुरुष से हमारा सान्निध्य होता है तब हम न केवल कुछ लोगों के या अन्य बातों के विषय में ही उनसे सुनते हैं, किन्तु उनके मुख से अकस्मात् निकली हुई ऐसी चर्चा सुनते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व के रहस्यों का बोध होता है। वह चर्चा हमें प्रभावित कर लेती है और उनसे बिदा होने पर भी वह हमें नहीं छोड़ती। तब ऐसा होने लगता है कि हमारी वाणी और कर्म अचेतन रूप से उनके व्यक्तित्व की कसौटी पर कसे जाने लगते हैं। हम लोग उनके कथन से उतना अधिक प्रभावित नहीं होते, जितना उनके व्यक्तित्व से।

जिस लेखक की रचनाओं को हम पसन्द करते हैं, अपने मन में सचेतन रूप से उसके पैठ जाने से हम परिचित हैं। युवावस्था में ड्यूमा और ह्यूगो मेरे बहुत प्रिय लेखक थे। उनके ग्रन्थों की मैंने कई आवृत्तियाँ की थीं। अपने मित्रों और सम्बन्धियों की अपेक्षा उनके ग्रंथों के पात्र मेरे लिए अधिक मूल्यवान् थे। मैंने अचेतन रूप से उनकी मनोवृत्तियों एवं वाक्पटुता के कौशल को अपना लिया। इन्हीं अन्तःप्रविष्ट शिक्षकों के कारण मेरी उन्नति हुई। यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने हमारे मानस-पटल में घर कर लिया है, जीवित है, तो उसका प्रभाव बड़ा ही अद्भुत होता है। कौन ऐसा आदमी है, जिसके जीवन को अपने प्रियजन के मनोनिविष्ट होने ने एक खास साँचे में न ढाल दिया हो?

साहित्यिक सृष्टि तब तक संभव नहीं, जब तक रचयिता के हृदय में चरित्रों का सन्निवेश—वह स्वल्पकालीन ही क्यों

न हो—न हो गया हो। पौराणिक ऋषियों के आख्यानों ने लड़कपन में मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया था। मेरे उपन्यासों और नाटकों के कुछ पात्र—जैसे कौटिल्य, उशनस् और्व, अगस्त्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ और परशुराम केवल उन चरित्रों के धुँधले और भद्दे चित्रण हैं, जो किसी समय मेरे लिए यथार्थ सत्ताएँ थीं।

उदाहरण के लिए व्यास के प्रति मेरा अद्भुत आकर्षण था। महाभारत उनकी कृति है। गीता उनका सन्देश है। एक प्रसिद्ध स्तोत्र के अनुसार "वे विष्णु हैं, और विष्णु वही हैं"; वे अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं; वे द्विभुज दूसरे विष्णु हैं, और अमल-लोचन शिव हैं। मैंने उनकी गणना उन महापुरुषों में सर्व-प्रथम की है, जिन्होंने अपूर्व आत्मसंयम द्वारा अपने जीवन में अमरत्व के साक्षात्कार और अपनी साहित्यक कृति द्वारा एक अनश्वर संस्कृति की नींव डाली है, जो विशेषतया भारतीय होने पर भी समग्र मानववर्ग को अपने भीतर समेटे है।

भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की अक्षुण्णता का, उसकी शक्ति के मूल स्रोत का हेतु व्यास की ही आत्मा है, जो महाभारत में प्रतिष्ठित है और शताब्दियों तक भारतीयों के अन्तःकरण में प्रविष्ट रही है। अनेक पीढ़ियों तक उसके मुख्य पात्र मनुष्यों की कल्पना में सन्निविष्ट रहे हैं; उसने जीवन-मार्ग दिखाया है, वह मार्ग जिसे करोड़ों मनुष्यों ने अपनाया है। उसके शब्द-विन्यास ने, उसमें व्यक्त भावनाओं और आदर्शों ने उन लोगों को प्रफुल्लित और

सबल किया है। यदि भारत इसका पात्र है कि उसके लिए जीवित रहा जाय और मरा जाय, तो इसका हेतु वह सौन्दर्य और शक्ति है, जिसे भारत ने, व्यास के प्रति शताब्दियों के आत्म समर्पण द्वारा, संगृहीत किया है।

परन्तु उनके प्रति मेरा आकर्षण एक आवेश की भाँति और बौद्धिक रहा, आध्यात्मिक नहीं। मैं प्रायः उनके विषय में विचार करता हूँ। अनेक बार उनके क्षणिक आत्म-सन्निवेश ने मुझे बड़े ही महत्त्वपूर्ण परिणामों पर पहुँचाया है। पर जीवन के सामान्य कार्य-कलाप के सम्बन्ध में मैं भूल ही करता रहा हूँ। उनका सन्निवेश मुझमें नहीं है, न मेरा ही उनमें है। यदि यह हो पाता तो मैं अपने व्यक्तित्व को मन-वचन-कर्म के समन्वय से युक्त कर लेता।

जीवन की व्यवस्था में इस आत्म-सन्निवेश का महत्त्व अवश्य समझना चाहिए।

पुरुषों और वर्गों, दोनों के व्यक्तित्व का विकास रचनात्मक संघर्ष (Creative Resistance) का परिणाम है। संघर्ष के रचनात्मक होने के लिए यह अपेक्षित है कि वह संकल्पात्मक प्रयत्न से, उस पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जिसका सजीव चित्र उसके मस्तिष्क में है, अनुप्राणित हो।

इस प्रयत्न के पीछे मनुष्य की उत्कट इच्छा ही प्रेरणा देनेवाली शक्ति है। जब कभी 'आत्मवान्' होने के रास्ते को कम करना और उसे पूरा तय करना अपेक्षित हो, तब इसी इच्छा को उद्दीप्त बनाये रखना जरूरी है।

पतंजलि के कथनानुसार योग उसी को प्राप्त होता है,

जिसमें 'संवेग' अर्थात् उत्कट इच्छा हो। इसी संवेग को दृढ़ करने से ही ईश्वर-सन्निवेश प्राप्त होता है, जिसके लिए निरन्तर आत्म-समर्पण की अपेक्षा होती है। इस विषय में बुद्धि निष्फल है। संकल्प के सबल प्रयत्न से स्पन्दित केवल उत्कट भावना ही इसमें सहायता कर सकती है।

कोई भी व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील हो सकता है, और उसे अपने कार्यों के परिणामों की भी प्राप्ति हो सकती है; पर यह सब होने पर भी उसकी आत्मा ही लुप्त हो सकती है, क्योंकि उसके सारे प्रयत्नों के साथ 'आत्मवान्' होने की अविच्छिन्न इच्छा न थी। जब वह इस संवेग की अनुभूति की क्षमता ही खो बैठता है, तब उसकी दशा बहुत शोचनीय हो जाती है। वे शिला-भव (Fossil) के समान हो जाते हैं और आत्म-संतुष्ट होते हैं अथवा जीवन में असफल और हताश। उनके लिए जीवन में कोई सार नहीं रहता; वह केवल चर्यामात्र रह जाता है। वह पुरुष अपने को पाने का प्रयत्न करता है, पर पा नहीं सकता। पहले के प्रोत्साहनों को, उसे प्रभावित करने के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता। उसका व्यक्तित्व धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, और वह अब अपवित्र नरक में पहुँच जाता है।

आत्मवान् होने के अवसरों को हम गवाँते रहते हैं। जीवन हमारे लिए या तो उलझनों से भरा हुआ संघर्ष रह जाता है और या निर्जीव सन्तुष्टि। अर्जुन की तरह न तो हम लोगों में उस मानवता के लिए, जिसने उसे ऐश्वर्य के सम्मुख हाथ जोड़कर सिर झुकाने के लिए विवश किया था,

जो ऐश्वर्य कि ईश्वर से ही उसे प्रसाद-रूप में प्राप्त हुआ था, न तो आश्चर्यचकित होने की और न भय से विकम्पित होने की ही क्षमता है। हमें वह कृपा ही प्राप्त नहीं है, जो जीवन को जीवित रहने के योग्य बनाती है। प्रभु का यह अन्त-र्निवेश उसी को नसीब होता है, जो उनका निरन्तर ध्यान करता है, जो बड़ी ही व्यग्रता के साथ उनसे मिलने की, उन्हें स्पर्श करने की और उनसे प्रेम करने की उत्कट अभिलाषा रखता है।

उस समय उसकी मनोवृत्ति उस प्रभु का सजाव चित्र ला खड़ा करती है। उसका ध्यान बड़ी श्रद्धा से प्रभु की लीलाओं एवं शिक्षाओं पर जम जाता है। ईश्वर उसके लिए भावना या विचार की ही वस्तु नहीं रह जाता, वरन् वह एक व्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। और जब उत्कट अभिलाषा के बदले प्रार्थना, अश्रुपात और शिरोवेदना का आरम्भ होता है, तब वह केवल उपास्य देव न रहकर, जिसकी अपने से बाहर अर्चा की जाती हो, अपने ही भीतर देखी जानेवाली और अनुभव की जानेवाली सत्ता हो जाता है। तब उपासक 'मन्मना:' 'मद्गत-प्राण:' हो जाता है। उसका व्यक्तित्व ईश्वर में ही लीन हो जाता है और वह 'मद्भाव' को ही प्राप्त होता है (मद्भावं याति)। उसके सभी बंधन नष्ट हो जाते हैं; वह मन की सारी संचित इच्छाओं को त्याग कर देता है और—

आत्मतुष्ट होकर वह तबही,
हो जाता है स्थित-प्रज्ञ।

दुःखों में नहिं विचलित होता,
सुख में निरासक्त रहता।
राग, क्रोध, भय उसे न छूते,
'मुनि' है वह, स्थित मन जिसका।
निरासक्त जो भाग्य-भोग में,
शुभाशुभों के रूपों में।
राग-द्वेष से रहित सदा ही,
जिसका मन न तटस्थ रहे॥

मुझे अब मालूम होता है कि बुद्धि के द्वारा ईश्वर को नहीं जाना जा सकता, उसके साक्षात्कार की तो बात ही दूर है। ईश्वर तो उस मनुष्य में निवास करता है, जो उसके सन्देश को केवल पढ़ता ही नहीं वरन् इतनी बार दोहराता है कि उसका सारा जीवन अदृश्य रूप से उसके अनुकूल बन जाता है। पाश्चात्य शिक्षा ने तो हमें यह सिखाया है कि यदि कोई पुस्तक मैंने पढ़कर समझ ली है तो फिर मुझे उसे पढ़ना अपेक्षित नहीं। यह तो इस युग का अभिशाप है, जो कि दिन प्रतिदिन छपनेवाले योजनों तक विस्तृत रद्दी साहित्य की सृष्टि से उत्पन्न हुआ है, जो मनुष्यों के चित्त को उलझन में डाल देता है और उनके व्यक्तित्व को ही दबा देता है।

स्वाध्याय तो भिन्न है। इसका अभिप्राय है किसी ग्रन्थ को, उसे धर्म-ग्रन्थ समझकर, तब तक बार-बार पढ़ते रहना जब तक कि उसके वाक्यांश और परिच्छेद मनुष्य के मस्तिष्क में, उसके विचारों के स्पन्दन में, उसे प्रोत्साहित करनेवाली आकांक्षाओं में ओत-प्रोत न हो जायँ।

हम लोग सांसारिक प्राणी हैं। हम द्रव्य और प्रतिष्ठा के लिए आजीवन संघर्ष में ही अपना जीवन बिताते हैं। तब भी यदि हम प्रतिदिन गीता का पाठ करते हैं तो भगवान् की कुछ उक्तियाँ हमारे मन में जम ही जाती हैं और हम उनकी शक्ति को पहचान लेते हैं। यदि कहीं उसकी सम्पूर्ण शिक्षा हमारे मन में जम जाय, तो फिर उसमें ईश्वर का ही निवास हो जाय। "वे हम में रहते हैं; मैं उनमें रहता हूँ"—यह एक रूपक नहीं है। भारत के योगी और भक्त तथा सारे युगों और देशों के सिद्ध इसी प्रकार ईश्वर भाव से समन्वित थे। इसमें उनकी पसंद की कोई गुंजाइश न थी। वे तो उसके आज्ञाकारी थे, और उसके 'निमित्तमात्र' होने के लिए ही जीते थे—

सुन ले तू अन्तिम वाक्य मेरा
जो कि रहस्यों का रहस्य है।
मैं कहता तुझसे वह ही हूँ,
जो तेरे निमित्त है हितकर।
'तेरा मन पूरित हो मुझसे,
तू दे मुझको अपना सनेह,
अपनी श्रद्धा, अपनी अर्चा।
पहुँचेगा तब मेरे पास'—
यह है मेरा प्रण सत्य सदा;
मैं करूँ प्रतिज्ञा भी इसकी,
इसलिए कि तू मेरा प्रिय है।

यह कोई केवल मौखिक सान्त्वना नहीं है। यह ऐसा

तथ्य है, जिसका यथार्थ अनुभव हो सकता है। यदि किसी भाग्यशाली को यह अनुभव हो जाय, तो उसके व्यक्तित्व का विकास होते-होते वह ईश्वरता के अनुरूप ही हो जायगा।

यही ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण—अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान है, जो गीता का अन्तिम सन्देश है। न केवल गीता का ही, वरन् अन्य सब धर्मों का भी। ईसाई सन्तों की यही स्वीकारोक्ति थी कि "मुझमें, मैं नहीं, ईसूमसीह ही निवास करते हैं।" श्रीकृष्ण ने भी कहा है—"निस्सन्देह तू मुझमें ही निवास करेगा।"

अनेक लोगों के लिए ईश्वर तो इतनी दूर, इतना अव्यक्त है कि उसमें उनका सन्निवेश हो ही नहीं सकता। उनके लिए तो पतञ्जलि के आदेशानुसार, ईश्वर-भाव की प्राप्ति के लिए यही एक बहुत अच्छा मार्ग है कि वे उन यथार्थ या काल्पनिक महापुरुषों के प्रति, जो आसक्ति और उसके परिणामों के, तथा भय और क्रोध के परे पहुँच चुके हैं—अर्थात् व्यास, बुद्ध, ईसा-जैसे व्यक्तियों के प्रति, जिन्हें हम परम श्रद्धास्पद सिद्ध पुरुष या ईश्वर-दूत मानते हैं, आत्मसमर्पण कर दें।

४—सत्य जो ऐक्य है

आधुनिक मस्तिष्क घपले में ज्ञान को ही व्यक्तित्व समझ बैठा है। इस नासमझी ने अगणित दुःखों को जन्म दिया है। भारत में इसने विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों को, बेतुके ज्ञान के टुकड़ोंवाली रद्दी कागज की टोकरियाँ बना दिया है, जिनमें न तो चारित्रिक बल है, न प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व और न विश्वास ही, जिससे कि ज्ञान, शक्ति के रूप में परिवर्तित होता है।

आज की शिक्षा, भीतरी व्यक्तित्व को विकसित नहीं करती; वरन् उस पर विदेशों के जड़ीभूत विचारों को लाद रही है। हम मशीन की तरह उसके अधीन हो गये हैं और अनवरत आत्मभाव की स्वतन्त्रता की ओर नहीं बढ़ रहे हैं। हम लोगों की जिज्ञासा सन्तुष्ट की जा चुकी है; हमें व्यापक आसक्ति और अत्यधिक घृणा मिल चुकी है; किन्तु हमारे व्यक्तित्व की प्रेरक शक्ति अब तक अनुत्तेजित ही है। हम लोग चलते-फिरते जालिए हैं। हममें बुद्धि है, पर इच्छा-शक्ति से रहित। हमें उन आदर्शों में विश्वास है, जो जीवन में मिथ्या हैं। कुछ स्थितियों में ज्ञान की खोज आदर्शों तक पहुँचती है; किन्तु बहुधा वह प्रभावरहित और जिन्दगी से दूर स्वप्नमात्र रह जाती है। फलतः आधुनिक मानव अपने विचारों के अपने वचन से विमुख होने पर, और अपने वचन के कर्म से विमुख होने में, अपनी हीनता नहीं समझता। यह दोहरी विभिन्नता अनिवार्य मानी जाने लगी है और बहुधा आधुनिकता के प्रतीक के रूप में स्वीकृत होती है।

मन, वचन और कर्म, विकासशील व्यक्तित्व में एक क्रियात्मक इकाई बन जाते हैं। परन्तु इस सामञ्जस्य को उन शक्तियों में लाना कठिन है जो साधारणतया एक दूसरे के विपरीत जाती हैं। जब मनुष्य में ये तीनों शक्तियाँ एक हो जाती हैं तब वह सत्य का अनुगामी बन जाता है और तभी वह प्रभावशाली हो जाता है।

"सत्य क्या है"—पाइलेट् (Pilate) ने पूछा था। और सत्य आज भी हमें अपने चक्कर से परेशान कर देता है। यह सत्य, आनुकूल्य नहीं है। दृष्टिकोण का विस्तार या यथार्थता का अधिक ज्ञान, बहुधा इस आनुकूल्य को मिथ्या बना देता है। यह किसी एक ही व्यक्ति का दृष्टिकोण भी नहीं है; क्योंकि कोई दो व्यक्ति किसी सत्य को जानने के प्रयत्न में सचमुच दो बिलकुल विरोधी मतों की स्थापना कर सकते हैं। फिर भी सत्य सार्वभौमिक सत्ता है, जिसकी सभी खोज करते हैं, जिसका सभी आदर करते हैं और जो उच्च कार्यों का पथप्रदर्शक है। एक विशेष अवसर पर मनुष्य में मन, वचन और कर्म की अनिवार्य एकता ही सत्य है। इसके प्रभावशाली होने के लिए मनुष्य को अपने जीवन में इसे पुष्ट करना पड़ेगा, जिससे कि वह आत्मभाव की प्राप्ति की ओर बढ़ेगा।

पतञ्जलि ने सत्यता की कसौटी यह बताई है—"सत्य प्राप्त हो जाने पर, कर्म का फल उत्पन्न करता है।" व्यक्ति को सत्य-परायण होना चाहिए, अर्थात् इससे पूर्व कि उसे कार्य का परिणाम प्राप्त हो, उसके मन-वचन-कर्म में

एकीभाव होना चाहिए। यदि मैं कुछ करना चाहता हूँ, तो तीनों शक्तियों को मुझमें क्रियात्मक एकता में ढलना पड़ेगा। यही सत्य है—अर्थात् जीवन की तीनों शक्तियों की सहती एक-सूत्रता। इसकी प्राप्ति कर लेने पर किसी के व्यक्तित्व में ईश्वर की आज्ञा ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है, जिसका कि वह व्यक्ति 'निमित्तमात्र' होना चाहता है।

वह मार्ग, जो जीवन को इस प्रकार मोड़ देता है, ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग कहलाता है। साधारणतया ब्रह्मचर्य शब्द इन्द्रिय या वासना के दमन के अर्थ में ही सीमित है। पर इसका वास्तविक तात्पर्य है अपव्यय का न होना—अर्थात् मानसिक, वाचिक और शारीरिक शक्तियों का व्यर्थ व्यय न होना। केवल इस अर्थ में ही साधक से—'यतवाक्काय-मानसः'—अर्थात् मन, वाणी और शरीर पर नियंत्रण करने को कहा गया है।

जीवन के प्रत्येक क्षण में, छोटी और बड़ी चीजों में, हम अपनी शक्ति व्यर्थ में नष्ट करते रहते हैं। हम गलत बोलते हैं, यह भी शक्ति का अपव्यय है। हम अपनी शक्ति को चञ्चलता में नष्ट कर देते हैं, जब कि हमें शान्ति से बैठना चाहिए। हम स्वतंत्रता के नाम पर, संयम के अनियमित विभाजन में, गपबाजी में और निष्फल कार्यों में समय बर्बाद करते रहते हैं। आज कितने ही आधुनिक लोग अपने जीवन के सर्वोत्तम भाग को 'ब्रिज' और 'गोल्फ' के खेल में गँवा देते हैं, जब कि उन्हें उतना ही शारीरिक स्फूर्ति या मानसिक विश्राम सैकड़ों अन्य उपादेय रीतियों से प्राप्त करना चाहिए।

यही बात मन के संबंध में कही जा सकती है। हम अपनी मानसिक शक्ति का व्यर्थ ही उत्क्षेपण सा करते हैं, जैसा कि नटखट बच्चे जलराशि में क्रीड़ा करते समय पानी उछालते हैं। मानसिक शक्ति के इस सापराध अपव्यय का किसी को विश्वास कराने के लिए बहुत थोड़ी ही जाँच की जरूरत है। हमें लगता है कि हम कार्य में व्यस्त हैं, जब कि हम केवल अनियमित और उच्छृंखल रूप से मानसिक शक्तियों को नष्ट कर रहे हैं। यदि आत्मभाव प्राप्त करना है तो हमें अपने शरीर-रूपी यंत्र की शक्ति का, जिसके द्वारा हमें उच्च फल प्राप्त करना है, अपव्यय न करना चाहिए। यदि किसी को ईश्वर का सान्निध्य अपेक्षित है, यदि वह ईश्वरेच्छा का ही 'निमित्त-मात्र' होना चाहता है, तो वह ईश्वर को कोई ऐसा पात्र कैसे भेंट कर सकता है जो जगह-जगह सछिद्र होने से बहता है।

भारत में चरित्र-बलवाले पुरुषों की कुछ कमी से, एक ही आदमी अनेक काम करने की ओर आकृष्ट होता है। पर यह बड़ी ही भूल—नैराश्य-पूर्ण भूल है। ठीक बात तो यह है कि हर आदमी को निजी कर्त्तव्य कर्म ही करना चाहिए। यह कार्य उसे अपना योग्यता के अनुरूप करना होगा। 'स्वधर्म' से इतर कार्यों में उसे अपनी शक्ति का ह्रास न करना चाहिए—

वि-गुण भी निज-धर्म प्र-गृह्य है।
स-गुण भी परधर्म तजो सदा।

निधन भी सु-प्रशस्त स्वधर्म में
रह सदा परधर्म भयावहः ॥

हम 'स्वधर्म' छोड़ देते हैं, जो जीवन के लक्ष्य की इकाई है और वह भी प्रतिष्ठा, अधिकार, और धन के लिए, जो कि भाग्य से मिल सकते हैं। इसका परिणाम भयावह होता है। यह असाफल्य है, अथवा इससे भी अधिक बड़ी हानि। यह बात व्यक्तित्व को ही दबा देती है। इस प्रकार से प्राप्त मान और प्रतिष्ठा व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर देने के बदले, अन्त में यह सिद्ध करती है कि उसका व्यक्तित्व ही उस प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है।

अतः व्यक्तित्व की पूर्वपीठिका है मानसिक शक्तियों का सामञ्जस्य, चित्त एकाग्र करने की शक्ति, और दृढ़ निश्चय, जो अपने लक्ष्य का ही अनुसरण, बिना आगा-पीछा किये, या बिना विश्रान्त हुए, करता है—

कार्य-शील, जन का, कुरुनन्दन !
होता है एक हि उद्देश।
बहुधा और अनन्त वृत्तिवाले,
तो हैं व्यवसायहीन ॥

विकास-शील व्यक्तित्व और निष्फल व्यक्तित्व में भेद प्रदर्शित करनेवाला तथ्य, अपनी शक्तियों का उद्देश्य-सापेक्ष केन्द्रीयकरण है। हममें से अधिक लोगों में यह क्षमता ही नहीं होती कि एक कर्त्तव्य, एक महत्त्वाकांक्षा या एक दृढ़ निश्चय को अन्य से पृथक् कर सकें, जो उस व्यक्ति के

लिए 'सत्य रूप' है और जो उसे जीवन में प्रतिष्ठित कर सकता है। कृष्ण ने अर्जुन से जो कुछ कहा है—अर्थात् "तुम मेरे निमित्त-मात्र बन जाओ"— उसे करने का हमें साहस ही नहीं होता।

सामान्य पुरुष और योगी में यही भेद है। योगी चाहे साधारण और अपूर्ण व्यक्ति ही क्यों न हो, वह एकमात्र 'सत्य' को ही अपने निर्देशक के रूप में स्वीकार करता है। वह दूसरों की इच्छा की अपेक्षा ईश्वरेच्छा के ही अनुकूल आचरण करेगा। वह अपने को सत्य में ही प्रतिष्ठित करता है, जो कि मन-वचन-कर्म का ही ऐक्य है।

कोई भी पुरुष, जब तक वह इस प्रकार चित्त एकाग्र नहीं कर लेता, अपनी आत्मा के प्रति सच्चा नहीं हो सकता। हममें से अनेक लोग अपने व्यक्तित्व की पुष्टि उन कार्य-कलापों से करते हैं जिनका हमारी आत्मा के विकास से कोई संबंध नहीं होता। जिसे किसी दफ्तर में कर्मचारी होना चाहिए, वह कोई अन्य पेशा कर रहा है; जिसे अध्यापक होना चाहिए, वह व्यापार में लगा है। एक तीसरा व्यक्ति किसी पेशे में, राजनीति या साहित्य में संलग्न है, जब कि उसे संस्कृति के उद्धार-कार्य में अपने को समर्पित करना चाहिए था—फिर चाहे यह कार्य इन्हीं बातों से ही होता। हममें से कितने व्यक्तियों के जीवन का एक निर्धारित और दिव्य लक्ष्य होता है? ऐसा लक्ष्य होने पर भी कितने लोग "ईश्वर के निमित्त मात्र" होने को तैयार हैं। पर जीवन दीर्घकालीन नहीं है, और न हममें बहुत बड़ी शक्तियाँ ही

हैं। जब हम उन मार्गों का अनुसरण करने में प्रवृत्त होते हैं, जो हमें खुले हुए प्रतीत होते हैं, तो हम मानो मृत्यु के मार्ग पर ही चलते हैं। हमारे उद्देश, हमारे मित्र, हमारे अभिरुचियाँ नौसिखुओं की हैं। उनका रुख एक ही ओर—अर्थात् एकाग्र—नहीं है, जैसा कि हमारे "निमित्तमात्र" होने पर होता।

जो बात एक आदमी के विषय में लागू है, वही एक देश के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है। किसी भी देश का अपना 'स्व-धर्म' होता है जो उसके इतिहास, उसकी संस्कृति, उसकी भीतरी शक्ति के द्वारा पूर्व-निर्धारित होता है। उसके स्वधर्म से असंगत फल को प्राप्त करने का कोई भी प्रयत्न, जो मन-वचन-कर्म के समन्वयात्मक ऐक्य पर आधारित नहीं है, उस देश को आपत्ति में डाल देगा।

भारत इतने दिनों तक जीवित रहा, इसका कारण यही है कि उसने अपना सत्यता, अपनी संस्कृति को अपनाये रखा है, जो कि विभिन्न, परन्तु सामञ्जस्य की ओर उन्मुख प्रभावों द्वारा रूपान्तरित होती रही है। भूतकाल में उसकी एकता उसके महान् सामाजिक संगठनों के अन्योन्याश्रय का ही रूप थी—उन संगठनों के जो उसकी संस्कृति, शक्ति, धन और सेवा-भाव के प्रतीक थे। वर्त्तमान समय में तो उसके ऐक्य का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं शिक्षित लोग; उसकी आर्थिक एकता, कांग्रेस और अन्य ऐसी संस्थाएँ, जिन्होंने राष्ट्रीय एकता का ढाँचा खड़ा कर दिया है; और अपनी सचाई का संरक्षण और स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रवृत्ति

पैदा कर दी है। और जैसे-जैसे मनुष्य संघर्ष के द्वारा सत्य की ओर बढ़ रहा है, देश को भी उसी सत्य की ओर संघर्ष करते हुए बढ़ना है। उसे विकेन्द्रित शक्तियों को एकत्र करना है, बर्बादी को रोकना है और अपनी कमजोरियों को दूर करना है। इन सबके अतिरिक्त उसे एक बड़ी कमजोरी दूर करनी है। यह कमजोरी है 'असत्य' अर्थात् अपने इच्छित लक्ष्य और वाणी द्वारा उसके व्यक्त रूप को अनुरूप कार्य के समन्वय से पृथक् रखने का स्वभाव।

५—मौन और एकान्तता की भावना

गीता ने उन गुणों में, जो जीवात्मा को समुन्नत करते हैं, मौन और एकान्त को प्रधानता दी है। "विविक्त-सेवी" अर्थात् एकान्त-सेवन करनेवाला पुरुष और मौनी अर्थात् मौन रखनेवाला ही वह पुरुष है जो 'आत्मभाव' को प्राप्त करता है।

वाणी का मनुष्य के व्यक्तित्व से गहरा सम्बन्ध है। संभाषणशील पुरुष ही संसार के सम्पर्क में आता है, उसे प्रभावित करता है और उस पर अधिकार जमा लेता है। जैसे जैसे वह संभाषण करता है, वैसे वैसे ही वह उन्नति करता है; वह स्वयं शक्ति का रूप बन जाता है।

जैसा कि, डिमास्थनीज (Demosthenes) के प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध होता है, वक्तृत्व के निमित्त संघर्ष

बड़ा लंबा और कठिन होता है। किसी विशेष अवसर पर, संभाषण की शक्ति द्वारा मनुष्य दूसरों से अपनी प्रशंसा बलात् करा लेता है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि वह मनुष्यों की तीव्र मनोवृत्तियों को अपने भाषण से यथावसर प्रभावित कर ले जाय; परन्तु श्रेष्ठ वाग्मिता भी मनुष्यों के हृदयों को तब तक प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखती, जब तक कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके लिए न लगाया गया हो; जब तक कि मौन, एकान्त और प्रार्थना, आत्म-समर्पण के इस एकतम रहस्य को नहीं सिखाते, जिसके द्वारा वक्तृता का महत्त्व वक्ता से बढ़कर हो जाता है। कार्लाइल (Carlyle) ने ठीक ही कहा था—"यदि यह अवसर समाधि स्थापित करने का हो तो मौन और एकान्त के लिए भी समाधियाँ बनाई जायँ।"

उसने फिर कहा—"मौन वह तत्त्व है, जिसके द्वारा संसार के महान् पदार्थों का स्वरूप निर्मित होता है, ताकि वे यथावसर अपने संपूर्ण और उत्कृष्ट रूप से प्रकट हो जायँ और सबको प्रभावित करते रहें।"

मौन के क्षणों में ही यथार्थ क्रिया-शीलता निहित है। हमारे जीवन की प्रमुख घटनाएँ—जीविका, विवाह, पद की प्राप्ति आदि दृश्य-प्रपंचों का रूप नहीं हैं, परन्तु वे तो एकान्त के विचारों में निहित हैं, एवं उस एकाकी विचार में हैं जो जीवन के संपूर्ण दृष्टिकोण को नवीन रूप से दूसरे साँचे में ही ढाल देता है, जो बात कि समाज की भूमिका में रहकर कभी नहीं हो पाती।

यदि कोई पुरुष ईश्वर-परायण हो, तो उसके लिए आत्म-समर्पण सुकर है और उसका जीवन सरलता से, बिना विशेष प्रयत्न के ही, ईश्वर के अनुकूल बन जायगा। ईश्वर से उसका सम्पर्क शान्त और अलौकिक आनन्द से ओत-प्रोत होगा जो उसके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बना देगा, और जब वह ईश्वरीय सम्पर्क से हटेगा तो सांसारिक बन्धनों का मुकाबिला करने के लिए पूर्णरूप से सन्नद्ध होगा।

एकान्तता गौनावस्था की जुड़वाँ बहन है। वह व्यक्तित्व के विकास के लिए सबसे अधिक प्रोत्साहन देनेवाला है, यदि उससे जड़ात्मकता न आ जाय।

ऋषियों के व्यक्तित्व का विकास, वनों और गिरिशृंगों पर हुआ था। भगवान् बुद्ध एकाकी ही बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हुए थे। हजरत मूसा, ईसा मसीह तथा मुहम्मद साहब ने पर्वत-शिखरों पर ही ईश्वर से अपना सम्पर्क स्थापित किया था। श्रीअरविन्द घोष सदा ही एकान्तवास करते हैं। गांधीजी किसी दूर के गाँव में एकान्त का वातावरण ही उत्पन्न कर देते हैं। सन्त बर्नार्ड (St. Bernard) ने तो पुकारकर कहा था—"हे एकान्त! विशुद्ध मुक्ति के स्वरूप!" प्रत्येक रचनात्मक कलाकार को अपने व्यक्तित्व के रिक्त कोष की पूर्ति के लिए एकान्त-सेवन करना पड़ता है।

यह समझना भूल है कि हम समाज में रहकर ही उन्नति कर सकते हैं। कभी मैंने भी यही सोचा था; पर अनुभव से जाना कि यह मेरी भूल थी। कभी-कभी एकान्त में चले जाना आवश्यक है, विशेषकर उस समय

जब हम थके हों, उद्विग्न हों या अन्तःप्रेरणा से रहित हो गये हों।

आधुनिक विचारधारा यह है कि समाज ही जीवन का आदि और यही अन्त है। यह बात मिथ्या है। सामाजिक सम्पर्क के लिए किसी व्यक्ति में पर्याप्त मानवता होना तो ठीक है, पर सभी समय उसी सम्पर्क को चाहते रहने के लिए उसे मानवस्तर से नीचे भी नहीं होना चाहिए। सुबोध मनुष्य के लिए नैरन्तरिक परिवर्तन, पराजय, संघर्ष और अपूर्णता कभी पर्याप्त नहीं हैं। "अरतिर्जनसंसदि"—अर्थात् भीड़भाड़ से घृणा, अभावात्मक गुण नहीं है, वरन् यथार्थ सत्तात्मक गुण है। एकान्तता उस आदमी के लिए भी कभी सूनापन नहीं है जो 'आत्मवान्' नहीं होना चाहता।

एकान्तता हमें वह विश्वास देने के लिए आवश्यक है जिसे समाज नहीं दे सकता। यह विश्वास एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है जिसमें उत्कट इच्छा, जो लालची का लोभ नहीं है, अधिक बलवती हो उठती है। पर यह जरूरी है कि उस व्यक्ति की एक अटल धारणा हो, उसे यह दृढ़ निश्चय हो कि कोई दैवी शक्ति उसके भाग्य की निर्मात्री है। यह उस व्यक्ति की धारणा होगी जो अपने अन्य कर्तव्यों से अलग हट गया हो और ईश्वर के ही आश्रित हो गया हो। ईश्वर ने तो उसके प्रति यह घोषणा कर ही दी है कि "मैं तुमको सारे पापबन्धनों से मुक्त कर दूँगा। तू दुखी मत हो।"

इस कोटि के विश्वास के बिना कोई पुरुष किसी को

अनुप्राणित नहीं कर सकता। इसके बिना अन्य गुण भी व्यर्थ हैं और न इसके बिना कोई बड़ी सफलता ही मिल सकती है। इसके द्वारा ही हम उस स्तर पर पहुँचते हैं, जिसमें हमारा जीवन स्वनिर्धारित ढाँचे के अनुकूल होना अपेक्षित नहीं रहता, वरन् उस भूमिका पर पहुँच जाता है, जिस पर हमें ईश्वर के अटल नियम का साक्षात्कार होता है। इस तरह एकान्तता पुरुष के व्यक्तित्व को गम्भीरता प्रदान करती है जो नम्रतापूर्वक आत्म-भाव की प्राप्ति के लिए लालायित होता है।

जो पुरुष 'आत्म-भाव' की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, उसके लिए एकान्तता एक अद्भुत सौन्दर्य और उसी पुरुष के द्वारा इच्छित महत्ता से परिपूर्ण है। उस समय वह संवेग की बड़ी लहरों में हिलोरें लेता है—अपनी समुन्नति में बाधक अपूर्णताओं को प्रक्षालित करते हुए, तथा उन घावों को भरते हुए जो समाज की नैतिक भूलों से हुए हैं। यदि वह स्वाध्याय करता है तो तज्जन्य तथ्य अपनी सृजनात्मिका शक्ति सहित उसे सब ओर से मिलेंगे। वह जीवन धारण करने के योग्य होगा। उस समय उसे "आत्म-भाव" तुषार के समुज्ज्वल शृंग के समान नहीं, वरन् यथार्थता के रूप में दृष्टिगत होगा।

मौन या एकान्तता का अभिप्राय यह नहीं है कि हम कुछ समय पढ़ने या लिखने में काटें। उसका अभिप्राय उस शान्तिपूर्ण क्षण से है जब हम अपनी आत्मा तथा ईश्वर के साथ समन्वय प्राप्त करते हुए "आत्मवान्" होने का संदेश

प्राप्त कर रहे हों। ऐसे शान्त और आत्मोन्नति करनेवाले क्षण मैंने पर्वत-शिखरों पर बिताये हैं।

'कोसानी' में, जब मैं हिमालय के त्रिशूल, नंदादेवी और धवलागिरि के शृंगों की ओर निश्चल दृष्टि से देख रहा था, जब मेरे नीचे छोटी-छोटी पर्वत-श्रेणियाँ और घाटियाँ अपने विस्तार के साथ बिछी पड़ी थीं, उस समय परिविस्तृत हिमालय की महत्ता के साथ-साथ मैं भी महान् बन गया था और क्षण भर के लिए यह अनुभव किया था कि मोह, भय और क्रोध के ऊपर उठ जाने की, इनके परे होने की एवं निर्गुण्य की स्थिति क्या है। जब मेरी टकटकी 'त्रिशूल' के उत्कृष्ट वैभव पर लगी थी, मैंने अपने चारों ओर प्रसरित शांतिपूर्ण स्तब्धता के भीतर से एक बहुत दूर की आवाज सुनी थी। मैंने अपने को उसके ग्रहण के अनुकूल बनाया। मैं निष्क्रिय बन गया। मैंने हिमालय की आत्मा को अपने में पूर्णतया समाविष्ट होने दिया। एक-एक करके मेरे सारे सांसारिक विचार कूच कर गये। मैं एक अपरिवर्तनशाली महत्ता के वक्षःस्थल में हिलोरें ले रहा था। उसी नीरवता में मैंने अनुभव किया, सान्निध्य का—

उन अनन्त देवादिदेव के,
जो अन्तिम विश्राम भूमि हैं;
निखिल विश्व के—अस्ति नास्ति के
सदा परे; इन्द्रियातीत जो।

क्या कायरों का स्वधर्म भयभीत होना नहीं है? मेरा

वधर्म तो बहुत नीचे, उष्णता, निराशाओं, संघर्षों आदि के
ोच में है। मुझमें तो सांसारिकता ही अधिक है।

संभवतः मेरा कर्तव्य मुझे पुकार रहा है। शायद यह
कार ईश्वर का संकेत है, क्योंकि कौन जानता है, वे
ल्लास जो इस प्रकार के अनुभव मुझे प्रदान करते हैं, एक
ोगी का, जो बर्फ और देवदारु के मध्य, मक्खिन और सामग्री
हित होकर, ठिठुरता रहता है, नहीं नसीब हैं। इस व्यापक
कान्तता में संभवतः उसने जीवन के आधारतत्त्व
Protoplasm) की वह तात्त्विक नीरवता प्राप्त कर ली
जो संवेग के परे है और जिसमें अहंभाव नहीं रह गया है।
ंभवतः "त्रिशूल" और "नंदादेवी" उसके लिए प्रेरणा के
ोत नहीं, वरन् दीर्घकालीन और ध्वंसकारी शीत की
रिचित प्रेतात्माएँ हैं। इस समय तो मेरे लिए मेरा कार्य
ांसारिक ही भूमिका पर है। क्या गीता ने हमें सांत्वना
हीं दी है कि—

श्रेयस्कर ही है निजी धर्म
चाहे वह हो, गुण-रहित सदा।
है सहज रूप से क्रियाशील
रहता वह होता पापरहित।
हो सहज कर्म—यद्यपि सदोष—
नहिं त्याज्य, कभी वह किसी तरह।
सारे प्रयत्न ही हैं सदोष,
धूमावृत जैसे अग्नि सदा॥

यदि मैं इस चित्तवृत्ति को स्थिर कर सकूँ, उसे सब

वृत्तियों से अलग कर सकूँ और अपने में मिला सकूँ, तो मैं हिमालय से छीनकर मौन और एकान्तता की आत्मा का आत्मसात् कर सकूंगा।

ऐसी एकान्तता में मैंने अपने को बाज पक्षी की नाईं अनुभव किया—स्वच्छंद, निर्भय, ऐसे बल से उन्मद जो दोषरहित है एवं जिसमें दुःख की छाया भी नहीं है। कभी कभी तो दिन के आगमन की सूचना देनेवाली प्रातःकालीन ध्वनियों के सुर से सुर मिला कर मैंने गान किया था।

मैंने तब जीवन की तलाश तो की, पर उसे स्मरण न रखा। मुझे तब ऐसा लगा कि मैं गौरवशाली हिमाच्छादित किसी सुदूर पर्वत-शिखर पर सदा रहूँ, केवल जीवन की मस्ती के ही लिए। तब तो मुझे अपना लक्ष्य ही प्राप्त हो जाता, जिसे कि जीवन भर के परिश्रम ने सुपुष्ट किया है। उस समय जीवन एक चरम लक्ष्य के समान, सुन्दर कविता के सदृश, उत्कृष्ट मूर्ति का तरह, आनन्द के समकक्ष, और किसी देवता को अर्पित सुन्दर पुष्प की भाँति हो जाता। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं सांसारिक पदार्थों का विस्मरण कर विचारों के संसार में ही विचरण कर सकता, यदि सांसारिकता का मेरा ज्ञान इतना संकुचित न होता, यदि मैं एक बंदी की—कायर की—स्थिति में न होता।

ऐसे ही क्षणों में मैंने क्रियाशील होने की अन्तःप्रेरणा प्राप्त की है। मैं आर्यसंस्कृति का उत्तराधिकारी हूँ। आज तो यह चालीस करोड़ गुलामों का केवल स्वप्न रह गया है। इसके संबंध में मेरी भावना क्या है, इसे प्रकट करने की

मुझमें क्षमता नहीं है, किस प्रकार मानव मस्तिष्क के उच्चतर प्रयत्न के रूप में वह सारे वर्तमान संघर्षों के परे मनुष्य के अभिमान की वस्तु—मनुष्य की एकमात्र आशा—रही है। मै तो भ्रान्ति की बेड़ियों से जकड़ा हुआ हूँ और उसके लिए न तो जीवित रह सकता हूँ, न आत्मोत्सर्ग ही कर सकता हूँ। अपने असहाय देशवासियों से मैं नहीं बता सकता कि वे क्या थे और अब क्या हो गये हैं। यदि मैं बताऊँ भी तो वे मेरी बात सुनेंगे नही। तो मैं उन्हें गुलामी से ही कैसे छुड़ा सकता हूँ, उनको महान् पुरुष के रूप में कैसे ढाल सकता हूँ और उन्हें आत्मा की प्राप्ति में कैसे सहायता दे सकता हूँ, जिसे कि वे धर्म तो कहते हैं, पर जानते नहीं।

मै तो उन साधारण मनुष्यों में हूँ जो दैनिक जीवन में मान और एकान्तता की अनुप्रेरणा से वंचित हैं।

मै धूलि का पुतला हूँ और धूलि में ही मुझे मिल जाना है।

(मई, सन् १९४१ को हिमालय पर कोसानी में पूरा किया गया लेख)